13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 179

काव्य की रीति सिखी सुखबीन सों

रीतिकाल में फ़ूको-विचरण-3

सुधीश पचौरी

आज से पंद्रह साल पहले सुधीश पचौरी ने 'रीतिकाल में फ़ूको-विचरण' शीर्षक से एक अध्ययन-शृंखला शुरू की थी, जिसके पहले दो हिस्से *बहुवचन* (अंक 9-10) में प्रकाशित हुए थे। यह लेख उसी कड़ी की तीसरी क़िस्त है जिसमें उन्होंने रीतिकाल के आचार्य-कवियों द्वारा निभाई जाने वाली काव्य-शिक्षण की पेशेवर भूमिका के साथ-साथ तत्कालीन सांस्कृतिक बाज़ार में कविता की माँग और आपूर्ति के समीकरण को विशेष रूप से रेखांकित किया है। हिंदी साहित्येतिहास की विभिन्न रचनाओं को नयी दृष्टि से पढ़ कर इस आलेख में विक्टोरियायी सेक्शुअल नैतिकता, ब्राह्मणवादी ब्रह्मचर्य, उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद, ब्रज की जगह हिंदी लाने के राष्ट्रवादी उद्यम और प्रोटेस्टेंटिज़म के भारतीय रूप आर्य समाज के सांस्कृतिक गठजोड़ के फलितार्थों पर भी प्रकाश डाला गया है।

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 180

> नव्य-इतिहासकारों की दिलचस्पी अर्थ और उसकी संरचना के सामाजिक और विचारधारात्मक प्रभावों में होती है। वे उन साहित्यिक कृतियों की रीडिंगों को प्रथमत: प्रस्तुत करते हैं जो परम्परागत आलोचना के ग़ैर-ऐतिहासिक एवं टेक्स्ट-आधारित नज़रिये के विपरीत होती हैं, और वे कृतियों की ऐतिहासिक पद्धति से उनकी सांस्कृतिक निर्मिति के संदर्भ में व्याख्या करते हैं, तथापि वे ज्ञान या इतिहास के महावृतांत के विकास को ख़ारिज करते हैं।[1]
>
> इतिहास साहित्य की पृष्ठभूमि नहीं होता, बल्कि वह उसी कार्य-व्यापार का विस्तार होता है जिसमें साहित्य अपनी सार्थकता सिद्ध करता है।[2]

इस उत्तर-आधुनिक दौर में रीतिकालीन कविता पढ़ते हुए तत्कालीन कवि, कविता की रचना प्रक्रिया एवं कविता के फ़ंक्शन संबंधी कई ऐसे सवाल कौंधते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अगर हम भक्तिकालीन साहित्य का केंद्रीय भाव 'ईश्वर-भक्ति' मानें तो यह सवाल उठता है कि भक्ति आंदोलन और भक्ति-काव्य के बाद नितांत ऐहिक कामनाओं से प्रेरित, सौंदर्यवादी और शृंगारवादी, नितांत दैहिक कविता से युक्त ऐसा रीतिकाल कैसे पैदा हो गया जिसमें भक्ति 'औपचारिकता' मात्र रह गयी।

हिंदी साहित्य के किसी भी इतिहास में इस बड़े साहित्यिक शिफ़्ट और उससे पैदा हुई 'टूट' का आवश्यक संज्ञान नहीं लिया गया है। *काव्यनिर्णय* के कवि भिखारीदास के एक कवित्त की अंतिम दो पंक्तियों में इस शिफ़्ट का संकेत इस तरह मिलता है :

आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई
न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है।

अर्थात् समकालीन और भविष्य के कवि उनकी कविता को सुन कर मुग्ध हों तो कविता, नहीं तो वह राधिका-कन्हाई के नाम:स्मरण का बहाना है। रीतिकालीन कविता पर रीतिकाल के ही एक महत्त्वपूर्ण कवि की यह काव्यात्मक टिप्पणी बताती है कि इस दौर में कवियों का लक्ष्य कविता का 'कवित्व' था, ईश्वर-भक्ति नहीं। हमारी मान्यता है (यह इस लेख में आगे और स्पष्ट होगी) कि रीतिकालीन कवियों के यहाँ 'भक्ति' और 'कवित्व' के बीच लगभग उसी तरह की रचनात्मक दुविधाएँ रहीं जैसी आज के कवियों में कवित्व और विचारधारा के बीच दिखती हैं।

उपरोक्त प्रकरण से यह भी सिद्ध होता है कि इस दौर के कवियों की प्राथमिकता कवि होने और कविता करने की थी। इस मायने में वे बेहद सजग कवि थे। कविता करना उनकी प्राथमिकता थी और अगर कविता 'राजसभा में बड़प्पन' दिलाने वाली कविता नहीं बनी और उसे सुन कर अन्य सुकवि नहीं रीझे, तो वह राधिका-कन्हाई के नाम स्मरण का बहाना मान ली गयी। कविता न हुई तो नाम:स्मरण भी चलेगा। कहा जा सकता है कि इस दौर का कवि अपनी भूमिका के बारे में एकदम सजग था। वह जानता था उसे क्या करना है और अगर उसका लक्ष्य पूरा नहीं हुआ तो उसे भगवान के लिए 'भेंट' बना देगा।

हिंदी साहित्य के इतिहास में यह सवाल अनुत्तरित ही रह गया है कि इतने ज़बरदस्त भक्ति

---

[1] पीटर सेजविक : 168.
[2] पॉल हैमिल्टन : 141

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 181

आंदोलन के बाद आख़िर क्यों रीतिकाल या शृंगार काल ने उसकी जगह हथिया ली? कवि का चोला बदल गया। कविता का रूप और रीति बदल गयी। उसकी स्टाइल बदल गयी। कवि किसी ईश्वर का 'आराधक' बनने की जगह कविता का होलटाइमर बन गया। कविता कर्म को एक 'कुलवक़्ती पेशे' या 'प्रोफ़ेशन' की तरह स्वीकृत किया गया। कवि को कविता करने के लिए नियुक्त किया जाने लगा। उन्हें एक प्रकार की नौकरी दी जाने लगी। यह आज के अर्थ में नौकरी करना न था। यह एक प्रकार की 'चाकरी' (घाघ) थी। इसे 'आश्रय' कहा गया। आज के प्रोफ़ेशनल्स की तरह वे 'पेड-प्रोफ़ेशनल' न थे। वे किसी न किसी राज दरबार या रईस के 'आश्रय' में रह कर कविता करने का काम करते थे।

इससे कवियों का व्यक्तित्व और उनके कविकर्म का रूप आमूलचूल बदल गया। वे ऐसे कवि हो गये जो अपने कविता-कौशल के लिए जाने जाते थे। वे अपने वक़्त के पहले कुशल शब्दशिल्पी थे। उनके शिल्प की क़ीमत थी। कवि की भूमिका में यह एक गुणात्मक परिवर्तन था। वे पूरी तरह से पेशेवर कवि थे जो अपने पेशे को गम्भीरता से लेते थे। यह प्रक्रिया कविता की 'स्वायत्तता' की दिशा में एक शुरुआत थी। यह अपने ढंग की 'आधुनिकता' भी थी।

भक्तिकाल की कविता के बअरक्स रीतिकालीन कवि और कविता इसी मायने में धार्मिक भावना या विचार से मुक्त 'सेकुलर' और आधुनिक नज़र आती है। इतिहास की इसी 'टूट' की अब तक अनदेखी की जाती रही है लेकिन इसे अब अनदेखा नहीं छोड़ा जा सकता। रीतिकाल भक्तिकाल से गुणात्मक 'पार्थक्य' स्थापित करता है और उसे इसी तरह से देखा जाना चाहिए।

नव्य-इतिहासवादी दृष्टि से देखें तो हिंदी साहित्य के इतिहास में घटित यह एक बड़ी 'टूट' है जो हिंदी साहित्येतिहास के 'कथित सातत्य' पर सवाल उठाती है। हमारा मानना है कि फ़ूको की इतिहास-दृष्टि के दावे के बाद कोई भी इतिहास एक अविरल सातत्य की तरह नहीं पढ़ा जा सकता। उसकी टूटों के आलोक में ही उसे पढ़ा जा सकता है। प्रसंगातर के भय से हम इस प्रसंग को यहीं विश्राम देना चाहेंगे। इस पर अलग से और अन्यत्र विचार किया जाना है।

■ अफ़सोस कि इन कवियों को उस परीक्षा में फ़ेल किया गया जो इन्होंने कभी दी ही नहीं थी। देरिदाई विखण्डनवादी नज़रिये से देखें तो कोई भी चीज़ या विचार मौलिक (ऑरिजिनल) नहीं हो सकता। देरिदा की नज़र में अनुवाद भी एक मौलिक रचना है।

■ मौलिकतावाद के इस बुखार को उतारने के लिए उत्तर-संरचनावादी चिंतक देरिदा के हवाले से हम यहाँ इतना ही कहेंगे देरिदा के अनुसार तो किसी मूल टेक्स्ट का अनुवाद भी एक 'मौलिक टेक्स्ट' होता है। यानी हर वाक्य हर कथन हमेशा मौलिक होता है। यहाँ तक कि किसी स्वर या शब्द का दुहराव तक मौलिक होता है। इसलिए हमारा मत है कि ये अनुवादी आचार्य भी मौलिक थे।

■ साहित्य के इतिहास में पहली बार साहित्य-शिक्षा की एक नए क़िस्म की माँग पैदा हुई। उसकी पूर्ति के लिए एक ख़ास तरह के ग्रंथ लिखे गए। माना कि तब साहित्य-संस्कृति की शिक्षा का आज की तरह का 'मास मार्केट' नहीं था, लेकिन माँग और पूर्ति के नियम को दोनों में समान रूप से काम करते देखा जा सकता है।

हम फिर इस दौर के कवियों की भूमिका की ओर लौटें। और यहीं सबसे ज़्यादा आफ़त है।

शुक्लजी ने इसमें कविता करने वाले तीन तरह के कवि देखे। एक वे जो लक्षणग्रंथकार (आचार्य) रहे, दूसरे वे जो काव्यशास्त्र के ज्ञाता तो थे लेकिन जिन्होंने लक्षणग्रंथ न लिख कर लक्षणानुसार सीधे कविता लिखी (रीतिसिद्ध), और तीसरे वे रहे जिन्होंने 'स्वच्छंद भाव' की कविता की (रीतिमुक्त)। आचार्यों के बारे में शुक्लजी की यह स्थापना कि इनमें 'मौलिकता का अभाव था', ऐसी साबित हुई कि इस वर्ग के कवियों को आज भी मौलिकताविहीन और शुद्ध नक़लची माना जाता है।

अफ़सोस कि इन कवियों को उस परीक्षा में फ़ेल किया गया जो इन्होंने कभी दी ही नहीं थी।

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 182

देरिदाई विखण्डनवादी नज़रिये से देखें तो कोई भी चीज़ या विचार मौलिक (ऑरिजिनल) नहीं हो सकता। देरिदा की नज़र में अनुवाद भी एक मौलिक रचना है। लेकिन इस बाबत हम अन्यत्र चर्चा करेंगे।

शुक्लजी के बहुत बाद, उनके एक शिष्य आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने *हिंदी साहित्य का अतीत* (भाग दो) में उनकी इस स्थापना का कुछ 'निराकरण' करने का प्रयत्न किया। मिश्र का मानना रहा कि ये मौलिक स्थापना करने वाले आचार्य भले न माने जाएँ लेकिन इनको 'शास्त्रकाव्य कवि' अवश्य माना जा सकता है यानी कि ये ऐसे कवि थे, जो शास्त्र को काव्य में ढाल कर शास्त्रकाव्य रचा करते थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लक्षणग्रंथ और शास्त्र में अंतर करते हुए लक्षणग्रंथों को उस हीनता से मुक्त करने की एक अच्छी कोशिश की जिसमें उन्हें शुक्लजी ने फ़िक्स कर दिया था। मिश्रजी इस काल में रचे गये लक्षणग्रंथों को उनकी देशकाल परिस्थिति के बीच कुछ इस तरह से देखते हैं :

> जब देसी भाषाओं ने सिर उठाया तो वे संस्कृत भाषा से ही नहीं संस्कृत साहित्य शास्त्र के ग्रंथों से भी दूर पड़ गयीं। सबके लिए संस्कृत साहित्यशास्त्र संस्कृत भाषा के माध्यम से सम्भव नहीं रह गया, इसलिए जो देसी भाषा में रचना करना चाहते थे और संस्कृत साहित्य और भाषा में पारंगत थे उनका यह कर्तव्य हो गया कि अपने अन्य साथियों के लिए जो संस्कृत भाषा और साहित्य नहीं जानते थे साहित्यशास्त्र के ग्रंथ हिंदी भाषा में प्रस्तुत कर दें।[3]

मिश्रजी ने उपरोक्त टिप्पणी में 'मौलिकता के अभाव' का कारण तो बता दिया, लेकिन वे यह नहीं देख पाए कि इस 'मौलिकताविहीन' युग में लक्षणग्रंथकार (आचार्य) अपने वक़्त में कविता की माँग की पूर्ति के लिए किस तरह से प्रोफ़ेशनल टीचर के रूप में एकदम नयी ऐतिहासिक भूमिका निभा रहे थे। आगे हम 'मौलिकता के अभाव' के 'अपराधी' बना दिये गये इन नये प्रोफ़ेशनल काव्याचार्यों की ऐतिहासिक भूमिका और अवदान के बारे में बात करेंगे।

उपरोक्त प्रकरण को एक बार फिर पढ़ें : रीतिकाल की शास्त्रभाषा संस्कृत नहीं रह गयी थी, बल्कि ब्रजभाषा हो गयी थी और रीतिकालीन कवि आश्रय यानी नौकरी के लिए जिन क्षेत्रों में जाते थे वहाँ-वहाँ कविकर्म का माध्यम ब्रजभाषा ही थी। ये लोग शास्त्रज्ञान और रचना (अप्लाइड फ़ॉर्म) के बीच बने अंतराल को भरते थे। संस्कृत को अच्छी तरह जानने वाले संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों को पढ़ कर अपने तरीक़े से उनका ब्रजी में अनुवाद किया करते थे ताकि अच्छी तरह से संस्कृत न समझ पाने वाले लोग भी काव्यशास्त्र की बारीक़ियाँ समझ कर कविता के क्षेत्र में अपने हाथ आजमा सकें।

इतिहास के इस दौर में एक साथ दो बड़े काम हो रहे हैं : एक, संस्कृत की जगह ब्रजभाषा चलन में आ रही है। दूसरे, ऐसे बहुत से कवि भी पैदा हो रहे हैं जो संस्कृत अच्छी तरह नहीं जानते। उनके लिए ख़ास ब्रजभाषा के माध्यम से काव्यशास्त्र और काव्यरीति यानी कविता करने के तरीक़े समझाने के लिए खास लक्षणग्रंथ लिखे जा रहे हैं। उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ (कॉपी) बनाई-बनवाई जा रही हैं। कवि-शिक्षा के हेतु लिखी जातीं ये नये प्रकार की टेक्स्टबुकें हैं और महत्त्वपूर्ण यह है कि उनके नये शिक्षार्थी कवि (ग्राहक) भी हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसे कथित 'अमौलिक' आचार्यों का यह नया 'पाठक वर्ग' था जो उनके लिखे लक्षणग्रंथों से काव्य-कौशल में दक्ष होने के लिए जानकारी प्राप्त किया करता था। इन लक्षणग्रंथों का प्रसार सीमित होता था, क्योंकि वे हस्तलिखित ही होते थे और उनकी कापियाँ देर में बना करती थीं।

मिश्रजी के इस हवाले से इतना ज़रूर माना जाना चाहिए कि रीतिकाल में ऐसे लक्षणग्रंथों को इनके पढ़ने-पढ़ाने वाले शिष्य-गुरु सक्रिय थे। जो शिष्य मूल संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथ पढ़ने में असमर्थ थे वे इनसे पढ़ कर कवि बनते थे। अगर इस समुदाय में हम आश्रयदाता को और उसके

---

[3] वही : 219

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 183

दरबारियों को शामिल कर लें, जो ऐसे कवियों की कविता के रसिक और श्रोता हुआ करते होंगे, तो यह अनुमान भी आसानी से लगाया जा सकता है कि उस दौर में कवि-कर्म सीखने वालों की, लक्षणग्रंथों को पढ़ कर कविता करने वालों की संख्या एक छोटी-मोटी क्लास जितनी तो ज़रूर रही होगी। कविता का एक छोटा-मोटा गुरुकुल तो चल ही सकता होगा।

जैसा हमने कहा, इस दौर में कविकर्म एक बेहद विशिष्ट (स्पेशलाइज्ड) और कुलवक़्ती पेशा बन चला था। इस काम के लिए सिर्फ़ काव्यार्थियों की ही ज़रूरत नहीं होती थी— कविता करना सिखाने वाले ऐसे प्रोफ़ेशनल दक्ष शिक्षकों की भी ज़रूरत थी जो चाहने वालों को कविता का भावक, रसिक और रचनाकार बना कर रसिक सभा के लायक बना सकें।

उक्त आचार्यों का काम दोहरा था। कविता तो करनी ही होती थी, साथ में कविता को सराहने वाला एक रसिक समाज भी बनाना होता था। कविता को सुनने वाले-सराहने वाले तभी सम्भव हो सकते थे जब कवि उसके लिए उचित और आवश्यक वातावरण तैयार करते।

तब न सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था थी कि जिसके फलस्वरूप कविता को पढ़ने वाला एक बना-बनाया पाठक मिल सकता। न प्रिंट ही था कि किताब के रूप में छप कर कविता सब तक पहुँच सकती। और कविता के पाठ के लिए न कोई 'पब्लिक स्पेस' था, न सार्वजनिक मंच थे। जो भी मंच और माहौल था वह या तो राजाओं के दरबारों में था या अमीरों की बैठकों में था।

यही कविता के कारोबार की जगह थी। ऐसे आचार्य और कवि मिल कर ही उस दौर का यह 'बुद्धिजीवी' और 'इलीट वर्ग' बनता था। यही कविता का प्राइवेट/पब्लिक 'स्पेस' था। कविता का स्पेस ही कविता का रूप तय किया करता है। इस कविता की रचना प्रक्रिया और रूप को यही स्पेस तय करता था। काव्यरीति और काव्यनीति सब यहीं कहीं बनती थी।

■ हिंदी साहित्य के इतिहास में घटित यह एक बड़ी 'टूट' है जो हिंदी साहित्येतिहास के 'कथित सातत्य' पर सवाल उठाती है। हमारा मानना है कि फ़ूको की इतिहास-दृष्टि के दावे के बाद कोई भी इतिहास एक अविरल सातत्य की तरह नहीं पढ़ा जा सकता।

■ आज की स्थिति से ... रीतिकालीन काव्य-शिक्षण कहीं बेहतर नज़र आएगा और उसमें दीक्षित होकर अनेक कवियों को अच्छा रसिक, भावक और कवि बनने में मदद अवश्य मिली होगी, वरना ... यह बहस न खड़ी होती कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा जैसी लक्षणात्मक और छंदात्मक कविता लिखी जा सकती है कि नहीं?

■ ये लोग शास्त्रज्ञान और रचना (अप्लाइड फ़ॉर्म) के बीच बने अंतराल को भरते थे। संस्कृत को अच्छी तरह जानने वाले संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रंथों को पढ़ कर अपने तरीक़े से उनका ब्रजी में अनुवाद में किया करते थे ताकि ... लोग भी काव्यशास्त्र की बारीकियाँ समझ कर कविता के क्षेत्र में अपने हाथ आजमा सकें।

ख़ेद की बात है कि रीतिकाल के उपलब्ध मूल्याकंनों में उस दौर के कवियों के आचार्यत्व की 'मौलिकता' और 'अमौलिकता' खोजने पर जितना ध्यान दिया गया उतना उनके 'कवि-शिक्षक' रूप पर ध्यान नहीं दिया गया। इसी वजह से रीतिकालीन आचार्यों का कवि-शिक्षक वाला पक्ष एकदम उपेक्षित रहा। अफ़सोस, इन आचार्यों को उस परीक्षा में फ़ेल किया जाता रहा जिसमें वे कभी बैठे तक नहीं थे। (मौलिकतावाद के इस बुखार को उतारने के लिए उत्तर-संरचनावादी चिंतक देरिदा के हवाले से हम यहाँ इतना ही कहेंगे देरिदा के अनुसार तो किसी मूल टेक्स्ट का अनुवाद भी एक 'मौलिक टेक्स्ट' होता है। यानी हर वाक्य हर कथन हमेशा मौलिक होता है। यहाँ तक कि किसी स्वर या शब्द का दुहराव तक मौलिक होता है। इसलिए हमारा मत है कि ये अनुवादी आचार्य भी मौलिक थे। यदि आवश्यक हुआ तो इस प्रसंग का विस्तार अन्य स्थान पर किया जाएगा)

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 184

बहरहाल, सारा पचड़ा 'रीति' शब्द के 'कुपाठ' से आरम्भ हुआ। शुरू-शुरू में रीति से मतलब 'रीति-सम्प्रदाय' से लिया जाता रहा। लेकिन सच यह है कि रीतिकाल के लिए प्रयुक्त 'रीति' शब्द वामन के 'रीतिरात्माकाव्यस्य:' के रूप में प्रयुक्त न होकर, कहीं अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। ज़रा देखिए : 'यहाँ काव्य-रचना-संबंधी नियमों के विधान को ही समग्रत: रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रंथ में रचना संबंधी नियमों का विवेचन हो वह रीतिग्रंथ और जिस काव्य की रचना इन नियमों से आबद्ध हो वह रीतिकाव्य है ... इस प्रकार रीति शब्द का विशिष्ट प्रयोग हिंदी का अपना प्रयोग है और यह नया नहीं है। रीतिकाल के अनेक कवियों ने प्राय: आरम्भ से ही काव्य की रीति, कविता-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है :

1. अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (देव / *शब्द रसायन*)
2. काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों देखी-सुनी बहु लोक की बातें (दास / *काव्यनिर्णय*)
3. कवित रीति कछु कहत हों, व्यंग्य अर्थ चित लाय (प्रताप सिंह / *व्यंग्यार्थ कौमुदी*)

'... रीति से इनका तात्पर्य स्पष्टत: है प्रकार-प्रणाली का ... मिश्रबंधुओं ने इस युग का नाम अलंकृतकाल रखते हए भी इन कवियों के ग्रंथों को रीतिग्रंथ और उनके विवेचन को रीति कथन कहा है ... 'आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वे संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के वर्णन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रंथों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रंथों के सहायक मात्र हैं, न कि उनके स्थानापन्न'। कहने का तात्पर्य यह है कि 'रीति' शब्द, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नहीं है।[4] बाद के आचार्यों ने इसे रीतिकाल की जगह अलंकार काल या शृंगारकाल कहा, लेकिन नाम रीतिकाल ही चला।

हमारी शिकायत नाम की नहीं है। इस काल के काम को न देख पाने की है। जब इतने कवि और इतने लोग मानते रहे कि इस काल में कवि आचार्यों का एक बड़ा काम कविता करने की प्रणाली की शिक्षा देना था तो उसमें उनके मौलिक होने की परीक्षा क्यों ली गयी? देखा तो सिर्फ़ यह जाना था कि इनके रचे कवि शिक्षा संबंधी ग्रंथों से कैसा काव्य-वातावरण बना एवं किस प्रकार के कवि, किस प्रकार के रसिक और भावक पैदा हुए? यानी हिंदी कविता की रचना प्रक्रिया से लेकर उसके अर्थ ग्रहण करने का, 'रिसेप्शन' का स्पेस कितना और किस प्रकार का बना?

कविता का यह स्पेस इस समय के छोटे-छोटे राजा सामंत रईस मुहैया किया करते थे। वे मुग़ल राजदरबारों की प्रतिच्छाया मात्र थे। विलास के बहुत से साधनों में 'कविता सबसे अधिक परिष्कृत उपकरण थी, वह केवल विनोद का रसाला ही नहीं थी, परिष्कृत बौद्धिक का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी थी। ये राजा और रईस अपनी संस्कृति और अभिरुचि को समृद्ध करने के लिए रससिद्ध व्युत्पन्न कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे। उससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था'।[5] नगेंद्र आगे कहते हैं : 'रीति-काल के कवि वे व्यक्ति थे जिन्हें प्राय: साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी। काव्य का परिशीलन और सृजन उनका शग़ल नहीं था, स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्नवर्ग के सामाजिक होते थे, परंतु अपनी काव्यकला के द्वारा ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्य-साधना निर्विघ्न चलती रहे। इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्यकला पर ही निर्भर रहता था। इसी कारण इनकी कविता इनके लिए मूलत: एक ललित कला थी'।[6]

---

[4] पीटर सेजविक : 168.

[5] पॉल हैमिल्टन : 141

[6] वही : 219.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 185

'... हिंदी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओं को और न सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार और भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार की परिचारिका ही। काव्यकला का अपना स्वतंत्र महत्त्व था— उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।'[7]

स्पष्ट है कि कविकर्म कवि-शिक्षण कर्म इस काल में एक पेशा था।

जैसा हम पहले कह आये हैं कि इस दौर में एक ऐसा समाज बन चला था जो संस्कृत में तो दक्ष नहीं था लेकिन जो रसिक था, जो कवित्व भाव रखता था, कविता के बारे में जानता था। ऐसे अनेक 'अन्य साथियों को' कवि शिक्षा देने के लिए जो किताबें यानी लक्षणग्रंथ बनाए जाते थे, उनके रचनाकार इनकी मौलिकता का दावा नहीं करते थे। लेकिन वे कविकर्म के लिए ज़रूरी उपादानों को समझाने की क्षमता रखते थे। पाण्डित्य सिद्ध करने के लिए ये कवि-शिक्षणग्रंथ नहीं लिखे गये थे। उनकी माँग सीमित थी, लेकिन माँग थी ज़रूर, इसीलिए उन्हें लिखा जाता था। अगर वे संस्कृत के आचार्यों की तरह लिखे जाते तो भी उनकी कुंजियाँ बनती, टीकाएँ लिखी जातीं और व्याख्याएँ की जातीं। यानी जब भी कविता करने का कौशल सिखाने की किताब बनाई जाती, वह एक सरल कुंजी की तरह ही बनती।

मौलिक सैद्धांतिकियों की स्थापना करने वाले संस्कृत-ग्रंथों की कुंजियाँ बनाने की परम्परा संस्कृत में खूब चली। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने बताया है कि अकेले मम्मट के *काव्यप्रकाश* की न जाने कितनी टीकाएँ हो गयीं, लेकिन उसका मर्म अब तक पकड़ में न आया। संस्कृत को अच्छी तरह न जानने वाला ब्रजी की कविता के मर्म को कैसे समझ पाता? रीतिकालीन आचार्यों ने इसी समाज की माँग को पूरा करने के लिए लक्षणग्रंथ लिखे। ऐसे आचार्य एक प्रकार के पाठ्य पुस्तकों के लेखक यानी 'टेक्स्ट लेखक' और टीचर हुए। क्या यह घटिया काम था? जी नहीं।

फिर जिस भाषा में कविता होती हैं अगर उसी में लक्षण या मानक गढ़े जाएँ तो वे अधिक सटीक और 'एप्लीकेबल' होते हैं। आप यूनानी भाषा में अरस्तू को पढ़ भले लें, हिंदी कविता के मूल्यांकन में उसका 'एप्लीकेशन' शायद ही कर सकेंगे। ये कवि ब्रज की कविता के लिए ब्रज भाषा में अपने काव्य लक्षण और उनसे संबंधित अन्य काव्यांगों तथा विषय वस्तुओं के बारे में सूचनाएँ देकर 'मानक' गढ़ रहे थे। इसमें क्या ग़लत? कौन सा अपराध?

ये हिंदी के साहित्य के प्राथमिक प्रोफ़ेशनल थे। ये इस दौर में काव्यकर्म को सिखाने और पढ़ने-पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर (आचार्य) थे। यह कविता की रचना-प्रक्रिया और अर्थ-प्रक्रिया का नया स्पेस था। इसे कम करके नहीं आँका जा सकता।

साहित्य के इतिहास में पहली बार साहित्य-शिक्षा की एक नये क़िस्म की माँग पैदा हुई। उसकी पूर्ति के लिए एक ख़ास तरह के ग्रंथ लिखे गये। माना कि तब साहित्य-संस्कृति की शिक्षा का आज की तरह का 'मास मार्केट' नहीं था, लेकिन माँग और पूर्ति के नियम को दोनों में समान रूप से काम करते देखा जा सकता है।

काव्यकला का ऐसा शिक्षण हिंदी साहित्य के इतिहास का पहला बड़ा 'कला उद्योग' था जिसकी माँग इस दौर में बनी थी। छोटे-छोटे राजा और अमीर-उमराव उस माँग और स्पेस को बनाते थे जिसमें कवि शिक्षार्थी रोज़गार पाते थे। यह उस दौर का सामंत वर्ग था जिसमें कला-कौशलों के सान्निध्य और रख-रखाव की हुमस थी, ललक थी। सामंतयुग में राजा ही विद्याओं और कलाकौशलों के संरक्षक हुआ करते थे। तब न आज की तरह स्कूल हुआ करते थे न विश्वविद्यालय, न 'दीक्षित' अध्यापक जो

---

[7] डॉ. नगेंद्र : 137-8.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 186

आज की तरह से साहित्य में बड़े पैमाने पर एमए हिंदी कराते, पीएचडी कराते, और इस तरह से उनमें साहित्यकार होने के लिए साहित्याभिरुचि या काव्याभिरुचि पैदा करते और वैसा पढ़ाते। तब की माँग सीमित थी, लेकिन थी अवश्य। और इसीलिए हमने इन आचार्यों को पहले ऐसे 'प्रोफ़ेशनल्स' की तरह माना है जो उस वक़्त के इलीट में काव्याभिरुचि विकसित करने और कलाकुशल बनाने के लिए आम भाषा में कविता के विषय, उसके उपकरणों और उपादानों के बारे में बताने के लिए अपने ढंग से मानक टेक्स्ट लिखा करते थे। बहुत सम्भव है कि ये आचार्य शिष्य/शिष्यों को पढ़ाते-समझाते हों, यानी एक तरह के ट्यूटोरियल लगाते हों। शुक्लजी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और रामनरेश त्रिपाठी की इस टिप्पणी में यत्र-तत्र उल्लिखित ग्रंथों में ऐसे कई क़िस्से दर्ज हैं जो कई आचार्यों की शिष्य-परम्परा का संकेत देते हैं। किंवदंतियाँ भी एक इतिहास कहा करती हैं।

कहा जा सकता है कि रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ ऐसे टेक्स्ट अवश्य रहे जिन्हें वक़्त ज़रूरत पढ़ा जाता था, जिनमें रस, अलंकार और नायक-नायिका भेदादि के बारे में बताया जाता था। उनके लेखक संस्कृत के आचार्यों की तरह नयी थियरीज़ भले ही न ईज़ाद कर पाए हों, लेकिन कविता की रचना-प्रक्रिया और उसके अंग-उपांगों के बारे में न्यूनतम जानकारी देकर उपलब्ध रसिकों की माँग को पूरा करने में सक्षम थे।

यह तो स्वत: स्पष्ट तथ्य है कि अगर हिंदी का पाठक रस, छंद, अलंकार और नायिका-भेदादि के बारे में कुछ नहीं जानता तो हम केशव के छंदों की चमत्कारप्रियता, बिहारी के दोहों के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थों, सुंदर पदमैत्री से युक्त देव के सवैयों का सौंदर्य, सेनापति और पद्माकर के ऋतुवर्णन और घनानंद के व्यंजनार्थों को नहीं सराह सकते। छंद की जानकारी के बिना हम उनकी लयात्मकता और अंतरग संगीत का आनंद नहीं ले सकते हैं, न अर्थ का अवगाहन ही कर सकते हैं। हम यह भी नहीं समझ सकते कि सवैया किस तरह शृंगार और करुण रस के लिए सबसे बेहतरीन छंद है और घनाक्षरी या छप्पय वीर रस के लिए किस तरह माकूल छंद है, और कौन से अलंकार कविता में किस किस तरह से नये नये अर्थ-सौंदर्य पैदा कर सकते हैं। बिना काव्यरीति के न्यूनतम ज्ञान के हम इस 'रहस्य' को नहीं समझ सकते कि जिस केशव को 'कठिन काव्य के प्रेत' की संज्ञा दी गयी, उसी की अलंकारप्रियता पाण्डित्य का क्यों बड़ा उदाहरण कही जाती थी?

कवियों के बीच केशव की काव्यक्षमता का ऐसा रुतबा था कि उनके लक्षणग्रंथ सचमुच टेक्स्ट की तरह पढ़े जाते थे और उनको कवियों तक के लिए एक मानक माना जाता था जिसके कारण यह उक्ति तक प्रचलन में रही कि 'कवि को देन न चहे विदाई पूछे केसव की कविताई' यानी अगर आपको किसी कवि से पीछा छुड़ाना है या उसकी योग्यता की परीक्षा लेनी है तो उससे केशव की कविता का कोई छंद मात्र पूछ लें। ऐसा सुनते ही कच्चा कवि तुरंत भाग खड़ा होगा।

शुक्लजी द्वारा कथित 'सीमाओं' के बावजूद[8] केशव रीतिकाल के एक बड़े शिक्षक के रूप में उभरते हैं। केशव के आचार्यत्व की लोकप्रियता के बारे में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने *हिंदी साहित्य का अतीत* भाग दो, में इस प्रसंग के बारे में किंचित विस्तार से लिखा है कि उनके लक्षणग्रंथों का कैसा असर रहा। कहने की ज़रूरत नहीं कि केशव के कुछ लक्षणग्रंथ रीतिकाल के उत्तरवर्ती कवियों तक के लिए पठनीय टेक्स्ट की तरह बने रहे। इस प्रसंग में ध्यान रखने की बात यह है कि ऐसे आचार्य जब किताब लिखा करते थे तो किसी बाज़ार के लिए नहीं लिखा करते थे बल्कि लक्षित पात्र के लिए लिखा करते थे, चाहे वह आश्रयदाता हो या कोई निजी व्यक्ति हो।

कवि-शिक्षा किस प्रकार से होती थी? लक्षणग्रंथ किस तरह से लिखे जाते थे? इसका एक

---

[8] वही : 140.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 187

उदाहरण केशव रचित *कविप्रिया* है जो उन्होंने अपनी साहित्य शिष्या प्रवीन राय पातुर के लिए बनाई थी। यह इनके आश्रयदाता इंद्रजीत सिंह की प्रधान दरबारी पातुर थी। यही वह पातुर है जिसके संबंध में जनश्रुति है कि अक़बर के दरबार में जब यह उपस्थित की गयी और बादशाह ने इसे अपने यहाँ रहने को कहा तब उसने तुरत एक दोहा बनाकर उत्तर दिया :

बिनती राय प्रबीन की सुनिये साह सुजान
जूठी पतरी खात हैं बारी बायस स्वान।

कहते हैं कि दोहा सुन कर बादशाह ने प्रवीन राय को जाने दिया। प्रवीन राय के अतिरिक्त और भी कई दूसरी पातुरें उस दरबार में थीं, पर यह कवयित्री थी। *रामचंद्रिका* का रामकलेवा इसी का लिखा कहा जाता है।[9] केशव की *कविप्रिया* इसी के लिए लिखी गयी थी जिसका काव्यार्थियों द्वारा बाद तक पारायण किया जाता रहा।

यह शुक्लजी ने भी माना कि इसमें संदेह नहीं कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की *कविप्रिया* से प्राय: पचास वर्ष पीछे ही चला।'[10]

बहरहाल, यहाँ हमारा मुख्य अभिप्राय आचार्यत्व का मूल्यांकन करने की जगह ऐसे आचार्यों की कवि-शिक्षा देने की वृत्ति पर विचार करना है। रीतिकाल का प्रथमाचार्य कौन था? यह सवाल शुक्लजी के इतिहास लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण रहा हो, हमारे लिए यहाँ यही देखना अभीष्ट है कि कवि-शिक्षा संबंधी तत्कालीन कारोबार में केशव की क्या भूमिका थी?

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जब रीतिकालीन आचार्यों का परिचय देते हैं तो यह भी बताते चलते हैं कि किस-किस ने कब कब कौन से कवि-शिक्षा विषयक ग्रंथ लिख, और कवि-शिक्षा विषयक इन ग्रंथों में कौन कौन से विषय समाविष्ट रहते थे? इन आचार्यों के इन ग्रंथों के बारे में दी गयी जानकारियाँ संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती हैं :

केशव की 'कवि-प्रिया' को एक लक्षणग्रंथों का एक मॉडल या आदर्श मानें तो ऐसे ग्रंथों में प्राय: 'वंदना, नृपवंश और कविवंश का वर्णन हुआ करता था'।[11] इनमें अलंकारवर्णन, छंदवर्णन, षड्ऋतुवर्णन और नखशिखवर्णन आदि रहा करते थे नखशिख वर्णन में नायिका के नख से शिख तक का वर्णन हुआ करता था। ये ग्रंथ इन अंगों के वर्णन करने के तरीक़े बताते थे। नख से शिख तक अंग-प्रत्यंगों की आदर्श परिकल्पना यानी एक परफ़ेक्ट स्त्री-मॉडल की कल्पना इनका लक्ष्य होता था, जिसे देख-समझ कर कवि अवसर पड़ने पर स्त्री का वर्णन कर सकता था। इसका अर्थ यह नहीं कि वह उसमें जोड़ घटा नहीं सकता था।

■ संस्कृत को अच्छी तरह न जानने वाला ब्रजी की कविता के मर्म को कैसे समझ पाता? रीतिकालीन आचार्यों ने इसी समाज की माँग को पूरा करने के लिए लक्षणग्रंथ लिखे। ऐसे आचार्य एक प्रकार के पाठ्य पुस्तकों के लेखक यानी 'टेक्स्ट लेखक' और टीचर हुए। क्या यह घटिया काम था?

■ आज के अध्यापक न भानुदत्त की *रसमंजरी* को पढ़े होते हैं, न केशव की *कविप्रिया* को ही पढ़े होते हैं, न नगेंद्र के रस-सिद्धांत को गहराई से समझ पाते हैं। कवि-शिक्षा संबंधी उक्त विषयों को या तो उपलब्ध परीक्षोपयोगी नोट्स की किताबों से पढ़ाते हैं या उनकी कुंजियों के सहारे पढ़ाते हैं।

■ केशव जैसे शुद्ध पेशेवर कवि और जसवंत सिंह जैसे योद्धा कवि के लक्षणग्रंथ इस दौर की लोकप्रिय पाठ्य पुस्तकें थीं। मतिराम के ग्रंथ *ललित ललाम* आर *रस राज* काव्य की रीति का अभ्यास करने वालों के बीच अपने समय में बड़े लोकप्रिय थे, 'क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है'।

---

[9] वही : 140-141.
[10] वही : 141.
[11] देखें, शुक्ल : 114-115.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 188

जिस तरह आज विभिन्न विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों में हिंदी साहित्य पढ़ाया जाता है या बहुत से संस्थानों में हिंदी में कविता लिखना ,कहानी लिखना सिखाया जाता है या अंग्रेज़ी 'हाउ टू राइट पोयट्री' या 'स्टोरी' या 'नॉवेल' आदि सिखाया जाता है, उसी तरह रीतिकाल में 'कवि-शिक्षा' के अंतर्गत कविता करने की कला सीखी-सिखाई जाती थी। हाँ, उस दौर में शिष्यों-शिक्षार्थियों की संख्या सीमित थी। आज वह असीमित है। हिंदी विभागों में आज भी एमए, एमफ़िल पाठ्यक्रमों के अंतर्गत कई विषय लगभग उसी तरह के और उसी तरह से पढ़ाए जाते हैं जिस तरह के रीतिकाल में प्रचलित थे। जैसे रस, साधारणीकरण, व्यभिचारी,नायक-नायिका भेद, छंद, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदाय और इन्हें पढ़ाने वाले कोई भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, आनंदवर्धन, कुंतक, पण्डित विश्वनाथ या मम्मट नहीं होते। आज के अध्यापक न भानुदत्त की *रसमंजरी* को पढ़े होते हैं, न केशव की *कविप्रिया* को ही पढ़े होते हैं, न नगेंद्र के रस-सिद्धांत को गहराई से समझ पाते हैं। कविशिक्षा संबंधी उक्त विषयों को या तो उपलब्ध परीक्षोपयोगी नोट्स की किताबों से पढ़ाते हैं या उनकी कुंजियों के सहारे पढ़ाते हैं। इस साहित्य-शिक्षण से हिंदी का विद्यार्थी यदि बन पाता है तो अधिकतम एक रसिक मात्र बन पाता है, या शायद उतना भी नहीं बन पाता। इनमें से कुछ पुस्तक-समीक्षक भी बन जाते हैं, लेकिन रस, छंद, अलंकार का बोध भूल कर। लेकिन यह दो अलग युगों की बात हुई। मर्म की बात इतनी भर है कि आज भी कविता कहानी लिखने की कला पढ़ाई जाती है तो उसमें इन काव्यांगों आदि का किसी न किसी रूप में ज़िक्र रहता ही है। कह सकते हैं कवि-शिक्षा रीतिकाल ते साथ ही ख़त्म नहीं हो गयी, वह अब तक किसी न किसी रूप में चली आती है।

यदि आज की स्थिति से रीतिकालीन कवि-शिक्षा की स्थिति की तुलना की जाए, तो रीतिकालीन काव्य-शिक्षण कहीं बेहतर नज़र आएगा और उसमें दीक्षित होकर अनेक कवियों को अच्छा रसिक, भावक और कवि बनने में मदद अवश्य मिली होगी, वरना रीतिकाल के उत्तरवर्ती काल तक में पक्के छंद लिखने वाले नहीं मिलते और यह बहस न खड़ी होती कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा जैसी लक्षणात्मक और छंदात्मक कविता लिखी जा सकती है कि नहीं? ऐसी कविता बिना अभ्यास के सम्भव नहीं थी।

हम देखते हैं कि यद्यपि आज के हिंदी पाठयक्रम सिर्फ़ रस, छंद, अलंकार तक सीमित नहीं है। साहित्य क्या है? गद्य क्या है। कहानी-उपन्यास क्या हैं? कितनी विधाएँ हैं? उनकी रचना प्रक्रिया क्या है? इतिहास क्या है? परम्परा क्या है? लेखक की विचारधारा क्या है? उसकी भूमिका क्या है? इन्हें पढ़ाने-समझाने के लिए मास्टर प्रोफ़ेसर लगाए जाते हैं। समकालीनता और विचारधारा के प्रकोप के कारण रस, छंद, अलंकारादि किनारे कर दिये गये हैं। सिर्फ़ संस्कृत के विद्वान प्रोफ़ेसर राधावल्लभ त्रिपाठी ही ऐसे नज़र आते हैं जो समकालीन कविता में अंलकारों के प्रयोग और उपयोग 'पढ़' लेते हैं, आम हिंदी कवियों और आलोचकों की पदावली में अब अलंकार और उनका सजग बोध नहीं आता।

अजीब बात है कि हिंदी के जो अध्यापक (आलोचक) रीतिकाल के इन आचार्यों-अध्यापकों के ग्रंथों के बारे में पढ़-पढ़ कर विभागों में हिंदी पढ़ाने लिखाने लायक़ हुए, वही इन्हें इस क़दर निंदित करते हैं। यह कैसी गुरुदक्षिणा है?

हमारी नज़र में रीतिकालीन आचार्य जैसे और जितने मौलिक/अमौलिक रहे हों, वे एक कवि-शिक्षक के रूप में अवश्य रहें। ये हिंदी के माध्यम से कवि-शिक्षा देने वाले पहले प्रोफ़ेसर लोग थे। एक प्रकार से नौकरीपेशा लोग थे। उन्हें हर महीने की पहली तारीख़ को तनख़्वाह न दी जा कर, आश्रयदाता द्वारा समय-समय पर बख़्शीश, भेंट, इनाम और ख़ैरातें दी जाती थीं। इनमें से कुछ तो इस क़दर 'वेल पेड' थे कि आज के आचार्य (कवि या प्रोफ़ेसर) सात जन्म नहीं हो सकते।

केशव ओरछा नरेश के यहाँ बड़े ओहदेदार रहे। यह प्रसिद्ध ही है कि बिहारी को एक दोहे पर एक अशर्फ़ी इनाम दी जाती थी। ऐसी किंवदंती किसी और ने नहीं स्वयं शुक्लजी ने उल्लिखित की है। पद्माकर इतने मान-सम्मान वाले और इतने रुतबेदार थे कि जब वे कहीं जाया करते थे तो उनके साथ

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 189

किसी छोटे-मोटे राजा की तरह उनके अपने हाथी-घोड़े और हथियारबंद सैनिक चला करते थे। उनके बारे में यह क़िस्सा प्रसिद्ध है कि जब एक बार पद्माकर अपना लाव-लश्कर लेकर दूसरे राजा की सीमा के पास पहुँचे तो उसके हरकारों ने उसे ख़बर दी कि सीमा पर हमला करने के लिए कोई दूसरा राजा चढ़ आया है। इसे सुन उस राजा ने भी अपनी पलटन सजाई और मुक़ाबला करने के लिए सीमांत पर जा पहुँचा। वहाँ जा कर मालूम हुआ कि जो आये हैं वे हमलावर न हो कर महाकवि पद्माकर हैं जिनके साथ उनकी पलटन चला करती है। यह जानने के बाद वह राजा उनको ससम्मान अपने यहाँ लाया और बड़ी आवभगत की। भूषण के बारे में तो कहा ही जाता है कि उनकी पालकी को स्वयं छत्रसाल ने एक बार कंधा लगाया था। इसी होते को देख भूषण ने कहा था कि 'सिवा कों सराहों या सराहों छत्रसाल कों'।

कहने का मतलब यह कि इनमें से कवि और आचार्य 'वैल पेड' होते थे। इस दौर में कवि की बडी क़ीमत होती थी। समाज में बड़ा आदर था। उसका दरजा ऊँचा माना जाता था। वे दरबारों की शोभा हुआ करते थे।

और, ये मामूली लोग नहीं होते थे। वे ख़ूब पढ़े-लिखे और बहुज्ञानी हुआ करते थे। लक्षणग्रंथों में उल्लिखित कवि-शिक्षा संबंधी विषय अपने आप में प्रमाण हैं कि वे स्वयं भी कई तरह के तत्काल उपलब्ध ज्ञानानुशासनों में अपेक्षित रूप से दक्ष हुआ करते थे। आख़िरकार राजदरबार के मुसाहिबी से युक्त 'कंपटीटिव' माहौल में अपने कवि होने को हर दिन सिद्ध करना होता था। ये सचमुच 'कवियों के कवि' हुआ करते थे।

हम फिर *कविप्रिया* की ओर लौटें और देखें कि इस रचना के मुख्य विषय-क्षेत्र क्या हैं?

कविप्रिया में नख से शिख तक नायिका के कुल इक्कीस अंगों का वर्णन नियत किया गया है। अगर हम इस सूची को देखें तो आज के 'ब्यूटीपार्लरों' में किये जाने वाले शृंगार (ब्यूटीफ़िकेशन) के आइटमों की लिस्ट काफ़ी पिछड़ी नज़र आती है।

'कविप्रिया का नखशिखवर्णन चिरकाल से प्रसिद्ध है'।[12] नायिका के नाख़ून से सिर तक अंगोपांगों की लिस्ट पढ़ कर आज के टॉप के शृंगार प्रसाधक और मिस इण्डिया और मिस वर्ल्ड जैसे आयोजन करने वाले तक अल्पज्ञानी प्रतीत होंगे।

इस कविता में नख से शिख तक स्त्री के अंगोपांगों का शृंगार उपमित किया जाता है, जिन प्रसाधनों और आभूषणों से उनकी सज्जा की जाती है और जिन-जिन उपमानों से उनकी तुलना की जा सकती है, उनकी लिस्ट इतनी बड़ी है कि आचार्यों की डिटेल्स की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। ज़रा देखें : 'जावक, पद, अंगुली, नूपुर, जेहरी, उरु, नितंब, कटि, रोमराजि, कुच, भुज, करभूषण, नखांगुलि, मुद्रिका, मेंहदीरंजित पाणि, ग्रीवा, पीठ, चिबुक, अधर, दसन, हाथ, मुखवास, मुखराग, रसना, वाणी, कपोल, नासिका, नकमोती, लोचन, अंजन, भ्रूयुग, कर्ण, लिलार, अलक, मुखमण्डल, केशपाश, शिरशोभा, वेणी, बेंदा, शिरोभूषण, अंगवास, वसन, समस्तभूषण, अंगदीप्ति, गति, सम्पूर्णमूर्ति ...।'[13] किस अंग के लिए कौन सा प्रसाधन, कौन सा आभूषण सही होता है, उन अंगों के लिए कौन-कौन से उपमान सटीक हो सकते हैं ... आप गिनते गिनते थक जाएँगे, लेकिन लिस्ट ख़त्म नहीं होगी। ये कवि के रूप में 'स्त्री-शृंगार' को साकार रूप देने वाले पूरे 'ब्यूटीशियन' ही थे।

ऐसे लक्षणग्रंथकारों के बारे में शुक्लजी ने लिखा : 'हिंदी में लक्षणग्रंथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं, वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते।' लेकिन अगले ही वाक्य में वे

---

[12] देखें, वही : 78-79.

[13] देखें, शुक्ल : 129.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 190

इनकी सार्थकता बताते हुए लिखते हैं : 'वे वास्तव में कवि ही थे' ... इसके बाद वे फिर टिप्पणी करते हैं : 'इन रीतियों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्य-ज्ञान कच्चा ही समझा जाना चाहिए।'[14] इतना कह कर अपनी उक्त स्थापना को कुछ संतुलित करते हुए शुक्लजी इन लक्षणग्रंथकारों के 'कवि' होने की बात को एक बार फिर से बलपूर्वक दुहराते हैं कि 'इन रीतिग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति से निरूपण करना। अत: उनके द्वारा एक बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषत: शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में उपस्थित हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिका भेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगार के अंतर्गत बहुत मुक्तक रचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी साहित्य में हुआ कि इसके एक-एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गये। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिकाभेद के भीतर दिखाया ... नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन स्वतंत्र विषय हो गया। और न जाने कितने ग्रंथ नखशिख वर्णन के लिखे गये। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षड्ऋतु वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गयीं। विप्रलम्भ संबंधी 'बारहमासा' भी कुछ कवियों ने लिखे।'[15]

इस तरह, शुक्लजी उनके आचार्यत्व को तो नहीं मानते, लेकिन उनके कवित्व में उनको शंका नहीं है। यही नहीं, वे बहुत दूर तक इनकी काव्यप्रतिभा पर मुग्ध भी नज़र आते हैं। यानी ये 'आचार्य' भले न हों कुशल 'कवि' अवश्य थे, और कवि-शिक्षण के लिए इन्होंने जो कुछ लिखा, वह अच्छी कविता अवश्य थी।

कहा जा सकता है कि ये ऐसे कविता-शिक्षक थे जो स्वभाव से कवि थे और कवि-शिक्षा संबंधी कविता लिख कर, कविता करने की कला सिखाया करते थे। उनके लक्षणग्रंथों में लिखे उनके उदाहरण ही पाठ्य (टेक्स्ट) थे। इसीलिए ये बेहतरीन शिक्षक होते थे। ऐसे सोदाहरण समझाने वाले शिक्षक के मुक़ाबले क्या कोरे सिद्धांत पेलने वाले अच्छे शिक्षक हो सकते थे? शायद नहीं। कविता के लक्षण का कुछ कथन कर साथ ही उसका उदाहरण रच कर बताना और समझाना इनकी एक बेहतरीन शिक्षण पद्धति थी। अच्छे अध्यापक आज भी साहित्य को इसी तरीक़े से पढ़ाते हैं। अत: निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे उदाहरण ही कवि-शिक्षा के मुख्य टेक्स्ट बने होंगे और ये कवि आज के टीचरों की तरह भले ट्यूशन न पढ़ाते हों, लेकिन श्रुत-परम्परा की ऐसी व्यवस्था अवश्य रही होगी जिससे पीढ़ी दर पीढ़ी कवि शिक्षण चलता रहे और कवि बनते रहें।

कहने की ज़रूरत नहीं कि हिंदी साहित्य के इतिहास का यह पहला 'कविता उद्योग' था जो एकदम 'कस्टमाइज़्ड' था यानी ग्राहक-विशेष की माँग के हिसाब से चलता था। कवि-शिक्षण का काम एक महत्त्वपूर्ण काम था। यह निजी उद्यम था और ये कवि अपने आप में 'उद्यमी' थे। यह कला के 'आंत्राप्रन्योर' थे।

उस दौर में कवि और कविता की माँग मौजूद थी, वरना ऐसा न होता कि *कविप्रिया* जैसी पाठ्य पुस्तक की गुजराती भाषा तक में टीका लिखी जाती।[16] इसी तरह जसवंत सिंह का अवदान देखिए। वे मारवाड़ के महाराजा थे। इनसे औरंगज़ेब तक भय खाता था। उन्होंने न केवल अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं बल्कि कवि-शिक्षा संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे और अन्य कवियों से लिखवाए। इनके *भाषाभूषण* के बारे में शुक्लजी ने कहा है कि इस में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों की व्यवस्था थी :

---

[14] वही, मिश्र : 80-81.

[15] वही : 81.

[16] वही : 84-85.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 191

'इससे विद्यार्थियों को अलंकार कण्ठ करने में बड़ा सुभीता हो गया और *भाषाभूषण* हिंदी काव्य रीति के अभ्यासियों के बीच वैसा ही सर्वप्रिय जैसा कि संस्कृत के बीच चंद्रालोक।'[17]

यहाँ शुक्लजी के प्रयुक्त दो शब्द— 'विद्यार्थियों' और 'काव्य रीति के अभ्यासियों'— इस बात के प्रमाण हैं कि उस दौर में कविता सीखने वाले 'विद्यार्थी' बाज़ाब्ता हुआ करते थे और काव्य की रीति सिखाने वाला वही ग्रंथ 'काव्यरीति के अभ्यासियों' (विद्यार्थियों)के बीच लोकप्रिय हुआ करता था जो पढ़ने और रटने में आसान होता था।

और यह काम इस क़दर महत्त्वपूर्ण था कि केशव जैसे शुद्ध पेशेवर कवि और जसवंत सिंह जैसे योद्धा कवि के लक्षणग्रंथ इस दौर की लोकप्रिय पाठ्य पुस्तकें थीं। मतिराम के ग्रंथ *ललित ललाम* और *रस राज* काव्य की रीति का अभ्यास करने वालों के बीच अपने समय में बड़े लोकप्रिय थे, 'क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है'।[18]

ज़ाहिर है, इस दौर में 'काव्यरीति' यानी कविता करने की शिक्षा का काम एक महत्त्वपूर्ण काम रहा। अनेक कवियों ने इस माँग की पूर्ति के लिए ऐसे काव्य-ग्रंथ लिखे जिन्हें 'लक्षणग्रंथ' कहा जाता है, जिनमें कोरे सिद्धांत कथन के साथ स्वनिर्मित उदाहरण लिखने पर ज़ोर रहा। कवि-शिक्षण के कार्य में इन (कथित रूप से 'अमौलिक') ग्रंथों की उपयोगिता की बात स्वयं शुक्लजी ने ही स्वीकारी है। नये काव्यार्थियों को कवित्वकर्म में शिक्षित और दीक्षित करना एक बड़ा कारोबार था। ऐसे सरल ग्रंथ आसानी से कंठस्थ हो जाया करते थे। पाठ को श्रवण और कंठगत करने पर ज़ोर रहता था। कहने की ज़रूरत नहीं कि साहित्य शिक्षण का यह तरीक़ा पुराने ज़माने से लोकप्रिय रहा। अच्छे उदाहरण देख कर बारम्बार पारायण और कंठस्थ करके कविता का ककहरा आसानी से सीखा जा सकता था। भिखारीदास ने अपने ग्रंथ *काव्यनिर्णय* को 'कंठ' करने के फ़ायदे बताते हुए यह दोहा लिखा है :

ग्रंथ काव्य-निरनैं-हि जो, समझि करेंगे कंठ।
सदा बसैगी भारती, तिन्ह रसना उपकंठ॥

कवित्व का बीज शून्य में अंकुरित नहीं होता। कवितोत्सुक को कविता में रहना- बसना होता है। पूर्व के और अपने समय के बड़े कवियों के सौ दो सौ छंद जब तक कंठस्थ न हों तब तक कविता का स्वाद ही नहीं मिल पाता। कविता के इस तरह के सत्संग के बिना किसी की सरस्वती जागृत नहीं हो सकती। ऐसा माना जाता था और इसमें कुछ ग़लत भी नहीं था। कविता करने के लिए तरह तरह के

■ कवि-शिक्षा ज़रूरी हुआ करती थी। कवि शिक्षा के अंतर्गत बहुत कुछ समझना काव्यांगों के बारे में कविता के प्रयोजन हेतु और विभिन्न सम्प्रदायों के बारे में जानना ज़रूरी होता था। ये विषय उस समय की 'लिटरेरी थियरी' के हिस्से हुआ करते थे।

■ संस्कृत में मौलिक काव्य-सिद्धांतों के निर्माण का काम लगभग लुप्त हो चला था। टीकाकारों द्वारा नाना टीकाओं के ज़रिये विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धांतों की बाल की खाल निकालने के बाद, ऐसा कुछ नहीं बचा था जिसकी चिंता की जाती। इस शून्य को रीतिकालीन लक्षणग्रंथों ने भरा। यह अपने आप में एक बड़ा शिफ़्ट था।

■ कवि बनना आज सबसे आसान काम है। न कविता सीखी जाती है, न कवि की कोई परीक्षा होती है। गुप्तजी की एक लाइन उधार लेकर कह सकते हैं कि 'कोई कवि बन जाए सहज सम्भाव्य है'। लेकिन संदर्भित युग में काव्यकला की शिक्षा की व्यवस्था आज की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल, श्रमसाध्य और अभ्यास प्रधान थी।

[17] शुक्ल : 130.
[18] देखें, शुक्ल : 131- 132- 133.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 192

अभ्यास कराए जाते थे। भाषा की शक्तियों को समझने के लिए कई तरह की शब्द-क्रीड़ाएँ संस्कृत में प्रचलित थी। रीतिकाल में समस्यापूर्ति कराना कविता करने की क्षमता को बढ़ाने के लिए एक अनिवार्य अभ्यास हुआ करता था। इसके अलावा प्रतिमाला या अंत्याक्षरी पहेली, अक्षरमुष्टि चित्र काव्य, लेखन, आदि अनेक काव्य क्रीड़ाओं से 'काव्याभ्यास भी प्रचलित थे'।

समस्या का कथन एक छंद की एक लाइन से किया जाता। उसके बाद नये कवि से उसी छंद में उसकी सटीक भाव पूर्ति करने के लिए कहा जाता। कविता की संरचना इसी से समझ में आती थी। ऐसे बहुत से अभ्यास थे जिनके बिना कवि बनना नामुमकिन था। रीतिकाल में यह सब हुआ करता था। इसे ही नये कवियों की क्लास कह लीजिए, इसे ही उनका पाठ और अभ्यास और इसे ही उनकी परीक्षा कह लीजिए। (इस तरह के अभ्यास प्रस्तुत लेखक ने अपने हाईस्कूल स्तर पर देखे और किये हैं। ये शायद ब्रजक्षेत्र हाथरस में रीतिकालीन कविता के अवशिष्ट काव्याभ्यास की तरह आज़ादी के कुछ बाद तक बने रहे। बाद में इनका लोप हो गया)

प्रतिभा जन्मजात होती है। यह एक असिद्ध मान्यता ही है, लेकिन 'व्युत्पन्न' व्यक्ति कवि अवश्य हो सकता है, 'अभ्यासी' भी कवि हो सकता है। भावयित्री प्रतिभा के जो तीन प्रकार बताए गये हैं उनमें व्युत्पत्ति और अभ्यास बड़े काम के हैं। काव्य-रीति की शिक्षा व्युत्पन्नों और अभ्यासियों को कवि बनाने के काम आती थी। यह शिक्षण भले ही आज की तरह ट्यूशन पढ़ाने जैसा नहीं था लेकिन इन कवियों का भी एक 'मार्केट' था जिसमें इनकी माँग बनी रहती थी। इसी हेतु लक्षणग्रंथों की प्रतिलिपियाँ बनाई जाती थीं। इसी काम के लिए कॉपी बनाने वाले 'कॉपी राइटर' होते थे। इन ग्रंथों के टीकाकार भी होते थे जो इन्हें और सरल बनाकर समझाने वाली टीकाएँ यानी कुंजियाँ लिखा करते थे। ये सब मिलकर इस दौर के काव्य-उद्यम के हिस्से होते थे। यह उद्यम एक प्रकार से स्वत:स्फूर्त उद्यम ही था। आश्रयदाता इन स्वत:नियुक्त उद्यमियों के 'पेमास्टर' थे। इन कवियों के उपलब्ध संक्षिप्त जीवनवृत्त बताते हैं कि ये कवि आश्रयदाताओं की टोह में शहर-दर-शहर और एक दरबार से दूसरे दरबार घूमा करते थे। कई बार आश्रयदाता राजा या रईस किसी कवि की कीर्ति सुनकर उनको बुला कर अपने दरबार में रख लिया करते थे और कविता करने और कवि शिक्षा देने के लिए यथाक्षम इनामात या भेंटें या ख़ैरातें दिया करते थे।

जिन कवियों को मज़बूत आश्रय मिला हुआ रहा वे एक दरबार में स्थिर रहे, जैसे केशव ओरछा नरेश के साथ रहे। बिहारीलाल जयसिंह के साथ रहे। लेकिन ऐसे भी कवि थे जिन्हें एक मजबूत शरणदाता मुश्किल से मिला। इस श्रेणी में सबसे ऊपर देव का नाम आता है। उनका उपलब्ध जीवनवृत्त बताता है कि वे आजीवन एक सही आश्रयदाता की खोज में भारत भर में भटकते रहे। कहीं उन्हें अपने मिज़ाज के कारण राज्याश्रय छोड़ना पड़ा कहीं आश्रयदाता ने उनको विदा कर दिया। शायद उनका मिज़ाज ही कुछ अधिक तुर्श था या कि वे अपने मानापमान की ज़रूरत से ज़्यादा चिंता किया करते थे। कारण जो भी हो, वे एक टिकाऊ आश्रय के लिए जीवन-भर भटकते रहे। फिर भी कहा जाता है कि उन्होंने सबसे ज़्यादा संख्या में ग्रंथ लिखे। कवित्व के मामले में उनको बिहारी की टक्कर का माना गया। (जिस पर बाद के दिनों समीक्षकों के बीच लम्बी बहसें चलीं।)

स्पष्ट है कि ब्रजभाषा-साहित्य में इस दौर में दो घटनाएँ एक साथ घटीं। पहली यह कि काव्य की रीति सीख कर कवि बनने की माँग की वजह से ब्रजभाषा में एक प्रकार का 'कौशलाधारित उद्योग' (स्किल-बेस्ड इण्डस्ट्री) विकसित हो गया। दूसरी यह कि कवि-शिक्षा का माध्यम बदल गया। संस्कृत भाषा की जगह ब्रजभाषा ने ले ली। इसका कारण यह था कि इस दौर तक आते आते संस्कृत में मौलिक काव्य-सिद्धांतों के निर्माण का काम लगभग ख़त्म हो चला था। टीकाकारों द्वारा नाना टीकाओं के ज़रिये विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धांतों की बाल की खाल निकालने के बाद, ऐसा कुछ नहीं बचा था जिसकी चिंता की जाती। इस शून्य को रीतिकालीन लक्षणग्रंथों ने भरा। यह अपने आप में एक बड़ा शिफ़्ट था।

■■■

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 193

संस्कृत में कवि का अत्यधिक महत्त्व था। संस्कृत में कवि के महत्त्व को बताने वाली जैसी उक्तियाँ मिलती हैं वैसी अन्य किसी क्लासिकल भाषा (ग्रीक या लैटिन) में नहीं मिलतीं। (प्लेटो के गणतंत्र में तो कवि की कोई जगह ही नहीं थी। अरस्तू और बाद के चिंतकों ने कुछ रियायत दी, लेकिन कवि का जो ओहदा और जो जलवा संस्कृत में माना गया, वह पश्चिमी साहित्यशास्त्र में कहीं नहीं मिलता। भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी साहित्यशास्त्र के बीच यह एक बड़ा सांस्कृतिक अंतर है।) रीतिकाल में भी कवि का महत्त्व बना रहा। बड़े-बड़े राजा भले न रहे हों, पर इस परम्परा का निर्वहन किसी न किसी रूप में जारी रहा। कवियों को यथाक्षम आश्रय देना राजाओं का एक कर्तव्य बना रहा। काव्य-रीति की शिक्षा की माँग शून्य में पैदा न होकर इसी वातावरण में पैदा हुई। उसके राजनीतिक सांस्कृतिक कारण रहे।

आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं : 'आदर्श राजा सरस कवियों का केवल आश्रयदाता ही नहीं होता था, प्रत्युत वह स्वयं कमनीय काव्यकला का उपासक होता था ...। राजा को चाहिए कि वह कवि समाज का आयोजन किया करे ... कवियों और विशिष्ट गुणीजनों के लिए एक विशिष्ट सभा भवन का निर्माण कराए जिसमें सोलह खम्भे, चार दरवाज़े, आठ मत्तवारिणी (बरामदे) हों ...।'[19]

राजा का काम कवि-गोष्ठी कराना, श्रोताओं को आमंत्रित कराना था। ऐसी सभा में समाज के अभिजन बुलाए जाते थे जिसमें वैद्य, दार्शनिक, पुराणवेत्ता, ज्योतिषी, नट, नर्तक, गायक, वादक, चित्रकार, मणिकार, स्वर्णकार, लौहकार, अन्य शिल्पी, मल्लविद्यानिपुण, गणिका, पैशाची आदि सबका स्थान तय होता था कि कौन किस क्रम से कहाँ बिठाया जाएगा।[20] संस्कृत में कवि और कवित्व को कितनी गम्भीरता से लिया जाता था इसे जानना अपने आप में मनोरंजक है। नवीं और दसवीं शताब्दी में कवि का, कवि-कर्म का कैसा महत्त्व था? इस बारे में आचार्य राजशेखर ने अपने ग्रंथ *काव्यमीमांसा* में कुछ दिलचस्प सूचनाएँ दी हैं जो पढ़ने योग्य हैं।

राजशेखर दसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हुए। यों तो वे विदर्भ के थे, लेकिन उन्होंने अपना अधिकांश लेखन कन्नौज में रह कर किया। इनका यह ग्रंथ, जिसका एक अध्याय 'कवि रहस्य' ही उपलब्ध बताया जाता है, अपने परवर्ती संस्कृत आचायों के बीच बेहद प्रिय रहा। उसमें उनके पूर्व-समय तथा तत्काल में कवि के महत्त्व, कविचर्या, कवित्व के विषय कवि-शिक्षण के लिए ज़रूरी विषयों के बारे में विस्तृत चर्चा मिलती है जिसकी एक बानगी बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ *भारतीय साहित्यशास्त्र* में राजशेखर तथा अन्य आचार्यों की कविता के विविध पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

वह ऐसा वक़्त था जब कवि का काम बेहद चुनौतीपूर्ण था और इसी मायने में अतिमहत्त्व का था। आज की तरह हर कोई कवि नहीं हो सकता था। उसके लिए उसकी कवि-शिक्षा ज़रूरी हुआ करती थी। कवि शिक्षा के अंतर्गत बहुत कुछ समझना होता था। काव्यांगों के बारे में, कविता के प्रयोजन हेतु और विभिन्न सम्प्रदायों के बारे में जानना ज़रूरी होता था। ये विषय उस समय की 'लिटरेरी थियरी' के हिस्से हुआ करते थे। इन सबका अवगाहन करने के अलावा कविता करने का अभ्यास भी ज़रूरी था। भाषा का ज्ञान तो ज़रूरी था ही, भाषा के विभिन्न कलात्मक प्रयोगों की गहरी जानकारी और अभ्यास भी ज़रूरी था। प्रतिभा, प्रभाव, गुणवत्ता और क्षमता आदि की दृष्टि से कवियों की भी कई कोटियाँ हुआ करती थीं। कवि-चर्या, कवि का निवास, कवि कब कविता करे, कब पहले 'भावकों' को सुना कर कविता के अच्छे या ख़राब होने की पूर्व परीक्षा करे, किस तरह से गोष्ठी हो, उसमें कौन कहाँ बैठे, किस स्तर की चर्चा हो, कवि के लिए जनरुचि का कितना महत्त्व हो आदि तमाम बातों के बारे में राजशेखर ने विस्तार से बताया है।

---

[19] देखें, मिश्र, वही : 81.

[20] देखें, शुक्ल : 135-136.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 194

ऐसा लगता है कि संस्कृत काव्य के उत्कर्ष के लम्बे दौर में कवि कोई मामूली आदमी नहीं होता था। उसकी अपनी 'क्लास' होती थी, क्योंकि वह अपने समय का भाषा-ज्ञानी और संचार-संवाद कला का विशेषज्ञ हुआ करता था। वह न जाने कितनी तरह की कविता करने में दक्ष हुआ करता था, भले ही वह एक प्रकार की कविता के लिए ही जाना जाता हो। राज दरबारों में उसे यूँ ही जगह नहीं मिल जाती थी। कवियों की और शास्त्रज्ञों की बड़ी कड़ी परीक्षा हुआ करती थी।

इस संदर्भ में *काव्यमीमांसा* के राजशेखर के निम्न दो श्लोक ध्यान देने योग्य हैं :

(1) इह कालिदासमेण्ठवित्रामररूपसूरभारवय
हरिश्चंद्रगुप्तौ परीक्षितावह विशालायाम्'
(2) श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह ब्याडि
वररुचिपतंजली इह परीक्षिता: ख्यातिमुपजग्मु: [21]

उपरोक्त उद्धरण देकर बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि राजशेखर के (उक्त) उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में उज्जैनी कवियों की परीक्षा का केंद्र था और पाटलिपुत्र शास्त्रकारों की परीक्षा का मुख्य स्थान था। राजशेखर के अनुसार महाकवि कालिदास, भर्तृमेण्ठ, आर्यशूर्य, भारवि, हरिश्चंद्र और चंद्रगुप्त की परीक्षा विशाला (उज्जैनी) नगरी में हुई थी। पाटलिपुत्र में आचार्य उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल, ब्याडि, वररुचि और पतंजलि आदि आचार्यों की परीक्षा की गयी थी।' [22]

सोचिए : जिनकी परीक्षा हुई होगी उनके परीक्षक कौन रहे होंगे ?

पुराने कवियों के लिए उस तरह के संस्थान तो नहीं थे, जैसे आज के जमाने में कविता-कहानी सिखाने वाले संस्थान नज़र आते हैं। कवि बनना आज सबसे आसान काम है। न कविता सीखी जाती है, न कवि की कोई परीक्षा होती है। गुप्तजी की एक लाइन उधार लेकर कह सकते हैं कि 'कोई कवि बन जाए सहज सम्भाव्य है'। लेकिन संदर्भित युग में काव्यकला की शिक्षा की व्यवस्था आज की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल, श्रमसाध्य और अभ्यास प्रधान थी। किसी सम्भव कवि को सिर्फ़ साहित्य ही नहीं पढ़ना समझना होता था बल्कि अन्य सामाजिक विषयों का भी विधिवत् ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था।

कवि-शिक्षा हेतु व्यवस्थित किये गये ज़रूरी विषयों की जो सूची बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ में दी है, उसे देख कर हमारी समझ में आ जाएगा कि तब के कवि के लिए किन किन विषयों को समझना ज़रूरी होता था और तब भी कोई गारंटी नहीं थी कि कोई उच्चकोटि का कवि हो ही जाएगा। उपाध्याय के अनुसार रुद्रट ने भामह का पदानुसरण कर कवि को सब प्रकार के विषयों से परिचित होने की बात लिखी है : 'रुद्रट के अनुसार लोक का न कोई ऐसा वाच्य है और न वाचक है, न कोई शब्द है न कोई अर्थ है जो काव्य का अंग न हो सके। इसीलिए कवि को सर्वज्ञ होने की आवश्यकता है।[23]

सर्वज्ञ होने के लिए कवि को लोक और शास्त्र दोनों का ही यथेष्ट ज्ञान ज़रूरी है। इसी संदर्भ में उपाध्याय आगे लिखते हैं :

> संक्षेप में कविता का विषय है लोक और शास्त्र। 'लोक' से अभिप्राय है स्थावर और जंगम पदार्थों के वृत्त से ...। 'शास्त्र' तथा विद्या से अभिप्राय है व्याकरण, कोश, छंदशास्त्र, कला, कामकला तथा दण्डनीति आदि से। काव्य की अर्थयोजना में इनका कितना महत्त्व है यह विशेषरूप से बताने की आवश्यकता नहीं है। कविता में शुद्ध शब्दों का प्रयोग पहली आवश्यक बात है और यह शब्द-शुद्धि व्याकरण के अध्ययन से ही प्राप्त की जा सकती है। पदों के अर्थों का निश्चय कोश की सहायता से किया जाता है ...। छंदशास्त्र के अध्ययन से वृत्तों में उत्पन्न होने वाले संदेहों का निराकरण होता

---

[21] देखें, शुक्ल : 140.
[22] उपाध्याय : 267.
[23] उपाध्याय : 267-68.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 195

है। कलाशास्त्र की सहायता से कला के सिद्धांत का ज्ञान कवि प्राप्त करता है। कलाओं की संख्या चौंसठ मानी गयी है जिसके भीतर अनेक व्यावहारिक तथा ललित कलाओं का सन्निवेश किया गया है। कामशास्त्र के विषयों का परिचय *वात्सायन सूत्र* आदि ग्रंथों से करना चाहिए। राजनीति दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र आदि के परिचय के लिए तद्विषयक ग्रंथों का अनुशीलन तथा अभ्यास कवियों के लिए अत्यंत प्रयोजनीय होता है ...।[24]

विनयचंद्र ने अपनी *काव्य-शिक्षा* में निम्नांकित विषयों से कवि को परिचित होना आवश्यक बताया है :

> तर्क परिचय, व्याकरण परिचय, चाणक्य परिचय, धनुदीय (या धनुर्विद्या?), उत्पाद्य संयोग, भारत परिचय, रामायण परिचय, मोक्षोपाय परिचय, आत्मज्ञान परिचय , धातुवाद परिचय, पुरुष-लक्षण परिचय, द्यूत परिचय, चित्र परिचय, वृक्ष परिचय, वनेचर परिचय, भक्ति परिचय, विवेक परिचय, प्रशम परिचय, हस्ति परिचय, वैद्यक परिचय, शास्त्र परिचय, ग़ज़लक्षण परिचय एवं तुरगलक्षण परिचय।[25]

राजशेखर ने कवि और काव्यार्थ के लिए ज़रूरी सोलह ज्ञान क्षेत्र गिनाए हैं : 'श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शन शास्त्र) ,समयविद्या (तंत्र शास्त्र), राजसिद्धांतत्रयी (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र), लोक (प्राकृत एवं व्युत्पन्न मनुष्य), विरचना (कवि की प्रतिभा से उत्पन्न कथा-विशेष), प्रकीर्णक (विविधवस्तु यथा हस्तिशिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद आदि), उचितसंयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग और संयोग विकार ...।'[26]

आख़िर इस 'कवित्व' की 'दवा' क्या है : इसका जबाव देते हुए काव्यमीमांसाकार राजशेखर कहते हैं :

> श्रुतीनां सांगशास्त्रानामितिहासपुराणयो
> अर्थग्रंथ: कथाभ्यास:कवित्वस्यैकमौषधम्
> (अर्थात् वेद वेदांग इतिहास पुराण अन्य तद्सदृश ग्रंथों के अर्थ का चिंतन तथा
> किसी वस्तु के वर्णन करने की कला का अभ्यास कवित्व के लिए ज़रूरी है।)[27]

इन विषयों को देख कर समझा जा सकता है कि कवि होने से पहले विविध विषयों में पारंगत होना ज़रूरी था। साथ ही साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों और कविताओं का ज्ञान और अभ्यास ज़रूरी था। उसके बाद राज दरबार के रसिकों के बीच अपना कवित्व सिद्ध करना होता था। तब कोई व्यक्ति कवि के रूप में जाना जाता था।

■■■

भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी तक संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने वाले लगभग तैंतालीस आचार्य हुए।[28]

रीतिकालीन दौर में भी संस्कृत के कुछ आचार्य सक्रिय रहे। स्वयं शुक्लजी ने इसका संकेत दिया है कि हिंदी के अलंकार ग्रंथ *चंद्रालोक* और *कुवलयानंद* के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में *काव्यप्रकाश* और *साहित्यदर्पण* का भी आधार पाया जाता है।[29] *कुवलयानंद* के लेखक अप्पय दीक्षित सत्रहवीं सदी के अंत तक जीवित रहे। इस कारण रीतिकालीन कवियों पर उनकी रचना का

---

[24] दोनों श्लोक बलदेव उपाध्याय की संदर्भित पुस्तक से उद्धृत.
[25] उपाध्याय : 273.
[26] देखें, उपाध्याय : 244.
[27] वही.
[28] उपाध्याय : 245-246.
[29] उपाध्याय : 141.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 196

असर अधिक रहा।[30] *रसगंगाधर* के लेखक पंडितराज जगन्नाथ भी इसी दौर में हुए। इनके अलावा अंतिम आचार्यों के रूप में विश्वेश्वर पण्डित और नरसिंह कवि अट्ठारहवीं शताब्दी में सक्रिय रहे। इस विवरण से इतना तो साफ़ हो जाता है कि रीतिकाल के आचार्य कमोबेश उसी भूमिका को निभा रहे थे जिसे संस्कृत के परवर्ती आचार्य निभा रहे थे।

हमारा अनुमान है कि इन कवियों का काम अपने आश्रयदाता राजा को तथा अन्य सभ्य समाज को सहृदय बनाना, काव्य-रसिक बनाना या भावक बनाना, उसकी प्रेरणा से कविता करना और काव्यार्थियों को कवि- शिक्षा देना था। लक्षण-ग्रंथ सिर्फ़ राजा के पढ़ने समझने की चीज़ नहीं थे। वे बाक़ी काव्यार्थियों के काम भी आते थे। गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार हर आचार्य के कुछ शिष्य होते थे और इसी कारण उनके ग्रंथों की हस्तलिखित प्रति बनाई जाती थी।

यहाँ 'आश्रयदाता' और 'आश्रय' शब्द को सही अर्थ समझ लिया जाए, तो रीतिकाल के कवियों और आचार्यों के अर्थशास्त्र के बारे में कुछ नयी समझ बन सकती है। संस्कृत के आचार्य भी राज्याश्रित थे, लेकिन वे इसके लिए निंदनीय नहीं कहे गये, जबकि ऐसी ही स्थितियों में काम करने वाले रीतिकालीन कवियों को हिंदी आलोचकों की आलोचना और निंदा का पात्र होना पड़ा। उनके दरबारी होने का एक अर्थ हो गया कि वे सामंताश्रित थे, चाटुकार थे, राजा की रुचि के अनुसार कविता करते थे, बिके हुए थे, इत्यादि। त्रिपाठी, शुक्ल और पंत से लेकर प्रगतिवादी आलोचकों तक ने इन कवियों को कुछ इसी तरह से देखा और यही रूढ़ हो गया। फ़िक्स हो गया। यह सरासर अन्याय था और है। इसका एक कारण आधुनिक समय में 'आश्रय' पद का उपरोक्त 'कुपाठ' रहा।

रीतिकाल की दी हुई 'काव्य-स्थितियाँ' उस दौर की कविता की 'टोटल कण्डीशन' थी। यानी कविता की 'सकल पारिस्थितिकी' सामंतीय थी जिसमें कविता होती थी। इससे बाहर ऐसा कोई 'स्पेस' नहीं था जो इस पारिथिस्तिकी से अलग या भिन्न बना होता। किसी भी युग की सामाजिक पारिस्थितिकी ही कविता की प्रक्रिया तय करती है। इस पारिस्थितिकी में उनके आलोचक तक वैसी आलोचना नहीं कर सकते थे, जैसी कि वे बीसवीं शताब्दी के नये वक़्त और नयी शिक्षा के बाद कर सके। इस तरह की आलोचना के लिए यह समझना ज़रूरी था और है कि कोई भी कृति अपने वक़्त के इतिहास का हिस्सा और परिणाम मात्र नहीं होती, बल्कि उसे बनाने वाली भी होती है। इतिहास का हर उत्पाद अपने इतिहास का उत्पादक भी होता है। इसे न भूलना चाहिए।

इस प्रकरण में पाल हैमिल्टन के उस उद्धरण को हम फिर देना चाहेंगे जिसे हमने लेख के शुरू में दिया है ताकि साहित्य के इतिहास को पढ़ने के नये तरीक़े के बारे में हम जान सकें। हैमिल्टन ने कहा है : 'इतिहास साहित्य की पृष्ठभूमि नहीं होता, बल्कि वह उसी कार्य-व्यापार का विस्तार होता है जिसमें साहित्य अपनी सार्थकता सिद्ध करता है।'

स्पष्ट है कि ये रीतिकालीन ग्रंथ उसी कार्य-व्यापार को बनाने वाले हैं जिसमें वे अपने अर्थ पाते हैं। उन्हें उसी तरह देखा जाना चाहिए। कहने की ज़रूरत नहीं कि हिंदी की आलोचना ने इस काल के साहित्य का शुद्ध 'कुपाठ' किया। यह 'कुपाठ' सुधारवादी राष्ट्रवाद से उपजी नैतिक दृष्टि से परिचालित रहा। हिंदी की कथित प्रगतिवादी आलोचना तक इसी तरह की आर्यसमाजी नैतिक दृष्टि से काम करती रही है। ऐसे आलोचक भक्तिकालीन काव्य को तो एक सामाजिक आंदोलन मानते रहते हैं, लेकिन कविता में शृंगार का ज़िक्र आते ही इन आलोचकों का ब्रह्मचर्य खण्डित होने लगता है।

यह आलोचना-दृष्टि इस तथ्य तक को नहीं समझ पाई कि इस सामंतकाल ने एक ओर ताजमहल दिया, तो दूसरी ओर हिंदी को एक से एक सुंदर और अमर कविताएँ दीं। यही नहीं, इस काल ने हिंदी

---

[30] उपाध्याय : 246.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 197

के पहले 'प्रोफ़ेशनल' कवि दिये। इसी काल की कविता ने हिंदी में अपने ढंग से काव्य की रचना प्रक्रिया, उसके 'रूप', उसकी शैली पर आवश्यक बल दिया और इस तरह से कविता को 'स्वायत्त और सेकुलर रूप' दिया जिसके अर्थ के लिए पाठक या श्रोता को कविता के स्ट्रक्चर से बाहर नहीं जाना था।

यहाँ पाठक सास्यूर के संरचनावाद की अवधारणाएँ याद कर सकते हैं। कविता को ले कर इस काल के कवियों की अवधारणाएँ, सास्यूर से बहुत पहले ही सास्यूर की कई अवधारणाओं के बहुत आसपास नज़र आती हैं, मानो ये कवि सास्यूर से बहुत पहले ही जानते थे कि 'कविता का अर्थ टेक्स्ट के स्ट्रक्चर में निहित होता है', लेकिन यह महती उपलब्धि तब नज़र में आती जब आलोचना को इसकी भर्त्सना करने से फ़ुरसत मिलती! इसे हिंदी का अपने ढंग का 'रूपवाद' (फ़ार्मलिज्म) कहा जा सकता है। कविता एक मुक़म्मल रूप है, एक ढाँचा है, परफ़ेक्ट स्ट्रक्चर है, उसके रूप के निश्चित उपादान हैं, जिनके बिना उसका रूप निर्माण असम्भव है। इस काल की कविता, बिना किसी रूपवादी या सरंचनावादी थियरी दिये, उदाहरण मुहैया करती रही। यहाँ कविता और कवित्व की एक अकथित थियरी काम कर रही मानी जा सकती है।

अभय कुमार दुबे ने अपनी टिप्पणी 'साहित्येतिहास की एक अनर्थकारी घटना' में इसे 'रशियन-फ़ार्मलिज्म' का दर्जा देने का एक प्रस्ताव किया है जो एक दिलचस्प प्रस्ताव है।[31] किंचित अंतर के साथ, यह दो तरह के साहित्य के बीच एक प्रकार की समांतरता की ओर इशारा करता है,

रशियन रूपवाद को सोवियत सेंसर का सामना करना पड़ा। और कैसा विचित्र दुर्योग कि रीतिकालीन कविता को भी आधुनिक हिंदी आलोचना का सेंसर झेलना पड़ा।

रीतिकालीन कविता सामंतवादी पारिस्थितिकी में अपने साथ कविता के 'रूप' और उसकी 'स्वायत्तता' को पुष्ट करने वाली चार-पाँच बड़ी सिद्धांतिकियों (रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति और रीति सम्प्रदाय) को साथ ले कर आयी थी, जो उसे संस्कृत काव्यशास्त्र से परम्परा में मिली थीं। ये सिद्धांतिकियाँ भले ही परवर्ती आचार्यों की कृतियों के ब्रजभाषा के अनुवादों से आयी, किंतु इन्हीं सैद्धांतिकियों ने इस काल की कविता को भक्तिकालीन कविता के बरअक्स 'काव्यरूप की स्वतंत्र सत्ता' देकर, उसे धार्मिक सम्प्रदायों की गुलामी से मुक्त कर दिया। अब वह किसी भक्त की ईश्वर भक्ति का साधन न रहकर अपने आप में अपना माध्यम और अपना लक्ष्य बन गयी। इसी प्रक्रिया में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, यह कविता अपने आप 'सेकुलर' बन गयी। उसने धर्म या भक्ति से कोई विचारधारात्मक झगड़ा नहीं किया। उसने सिर्फ़ इतना माना और मनवाया कि 'कवि के लिए कवित्व ही प्राथमिक है', लगे हाथ अगर कुछ भक्ति भी सध जाए तो पौ बारह, अगर नहीं तो कोई बात नहीं। इस अर्थ में इस कविता का रूपवाद क्रांतिकारी है क्योंकि इसी के ज़रिये वह सामंतवादी सीमाओं को तोड़ पाई। (इस बारे में विस्तार से फिर कभी।)

इस रूपवाद की महिमा निराली थी। कवि का लक्ष्य कविता करना था। किसी सम्प्रदाय या विचार के अधीन कविता करना नहीं था। शब्द, छंद, अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, वक्रोक्ति आदि कविता के औज़ारों पर सिद्धि प्राप्त करके ही ऐसी कविता सम्भव थी जो रसिकों का मन मोह ले। आसानी से कंठगत हो जाए। अमर हो जाए।

रीतिबद्ध हों या रीतिसिद्ध या रीतिमुक्त, सब कवियों के काव्यरूप की विशेषता ही यह है कि उसके रस या अर्थानंद के लिए आपको कविता के शब्दार्थ में ही रमना है। यह अपने तरह का संरचनावाद नहीं तो और क्या है? क्या ऐसी कविता को हीन कहा जा सकता है? हरगिज़ नहीं।

---

[31] उपाध्याय : 11-15.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 198

कुछ बाद यानी 1949 में, डॉक्टर नगेंद्र ने रीतिकालीन कविता के निंदकों के आरोपों का यह कह कर निराकरण करना चाहा :

> रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे जिन्हें प्राय: साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा से प्राप्त थी। काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शग़ल नहीं था, स्थायी कर्तव्य-कर्म था। ये लोग यद्यपि निम्न-मध्यवर्ग के ही सामाजिक होते थे, परंतु अपनी काव्य-कला द्वारा ऐसे राजाओं और रईसों का आश्रय खोज लेते थे जिनकी सहायता से इनकी काव्यसाधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका सम्पूर्ण गौरव इनकी काव्य कला पर ही निर्भर रहता था ... इसी कारण यह कविता मूलत: एक ललित कला थी जिसके बल पर ये अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए गोष्ठी के शृंगार बन पाते थे ... अपनी प्रतिभा और कला के प्रदर्शन के प्रति ये जागरूक थे, इसका तो निषेध नहीं किया जा सकता ... परंतु इसके आगे बढ़ कर इनको काव्य-व्यवसायी कहना या फ़रमायशी कवि कहना अन्याय होगा।[32]

आधुनिक आलोचकों द्वारा इस काल के कवियों के अवमूल्यन के बारे में मिश्रजी कुछ इसी तरह की शिकायत करते हैं :

> इस अतियथार्थवादी नूतन मनोवैज्ञानिक युग में आ कर भी जब हिंदी के शृंगारकाल के शृंगारी कवियों का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया गया, बिहारी को ही झाँक कर रह गया आलोचना का बचपन, पूर्णिमा को नहीं पहुँचा, तब इसे इन कवियों का अभाग कहा जाए या हिंदी की वर्तमान आलोचना का। ... मनोविज्ञान के वैज्ञानिक या शास्त्रीय ग्रंथों के संकेत पर इनकी रचनाएँ निर्मित हुईं। कामशास्त्र या कोककारिकाएँ इनका आधार नहीं बनीं। जो संकेत है वे साहित्यशास्त्र के ही हैं, जो तत्व है वह सजातीय ही है या स्वकीय। साहित्यशास्त्र का परम्परित कथित भी कहते चले हैं और स्वकीय पर्यवेक्षण भी पिरोते गये हैं। शृंगारचरित के सूत्र में पिरोए मानस के मोती ही नये हैं, सुजन नहीं तो सुजानहृदय उसे पहनते भी हैं, पर साहित्य के 'सामाजिक' के आसन पर कोई समाजवादी बैठ जाए तो इन कवियों की ख़ैर नहीं।[33]

मिश्रजी इस मीठे व्यंग्य में थोड़े में ही बहुत कह गये हैं। इस काल की कविता को 'सामाजिक' की जगह 'समाजवादी' ही मिले। ये तरह-तरह के रहे। कुछ सुधारवादी रहे, कुछ मार्क्सवादी रहे। दोनों ही हिंदी के ब्रह्मचर्यत्व के ऐसे लठैत रहे कि शृंगार के नाममात्र से इनका ब्रह्मचर्यत्व डोलने लगता। इनकी क्रांतिकारिता 'काया कंचन कामिनी' से ख़तरा महसूस करती थी। नतीजा यह तक हुआ कि जब यशपाल ने एक उपन्यास में अपने नायक नायिका से कपड़े उतारने का प्रसंग लिखा तो एक आर्यसमाजी क़िस्म के मार्क्सवादी आलोचक ने यशपाल को 'साड़ी जंपर उतार' कला-प्रवीण बता दिया। कट्टरता का ऐसा बोलबाला रहा कि यशपाल का कथा सहित्य दोबारा सिर न उठा सका। ऐसे में रीतिकाल की बात कौन करता?

हिंदी आलोचना में सुधारवादी समाजवादी मार्क्सवादी रुचियों का ऐसा आतंक रहा कि नगेंद्र ने भी *रीतिकाव्य* की भूमिका में रीतिकाल का परिचय देते हुए 'क्षमा करें' वाला प्रार्थना-भाव बनाए रखा और मिश्रजी ने आलोचना में 'सामाजिक' की जगह 'समाजवादियों' के आ बैठने को रीतिकालीन कवियों को 'अभागा' कह कर सिर्फ़ एक मीठी शिकायत दर्ज की, उनकी सब दुष्टताएँ 'दुर्भाग्य' के नाम कर दीं। (इस प्रसंग का अपेक्षित विस्तार अन्यत्र किया जाएगा)।

उपरोक्त उद्धरण में नगेंद्र के दो शब्द ध्यान खींचने वाले हैं : एक है 'कर्तव्य कर्म', दूसरा है 'ललित कला'।

कविता करना इन कवियों के लिए एक 'कर्तव्य कर्म' था यानी ड्यूटीवर्क था। ये इसे 'जॉब' की तरह लेते थे। ये कवि इतिहास के पहले 'फ़ुलटाइम प्रोफ़ेशनल' कवि थे जो कविता को 'प्रोड्यूस'

---

[32] शुक्ल : 129.

[33] देखें, उपाध्याय : 113.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 199

करके अपनी ड्यूटी पूरी करते थे। ये 'पेड' थे, इन्हें कविता करने के लिए इनाम या भेंट या ख़ैरात या तनख़ा मिला करती थी। इसके बावजूद कविता इनके लिए एक प्रदर्शन भी थी, 'परफ़ारमेंस' भी थी, उसे कहने, उसे पढ़ने के ढंग, उसे लिखने के अंदाज़ में ही उसका लालित्य था। इसी कारण कवियों के लिए कविता कर्तव्य-मात्र नहीं थी। एक स्वतंत्र 'ललित कला' भी थी जिसका एक प्रकार का यादृच्छिक 'असंगठित उद्योग' इस काल में उठ खड़ा हुआ।

इन कवियों के कवित्व के कलात्मक महत्त्व को स्थापित करने के लिए ऊपर उद्धृत पंक्तियों के आगे नगेंद्र यह भी जोड़ते हैं कि 'वह अपने प्रतिनिधि रूप में वैयक्तिक गीत कविता नहीं है। वह कलात्मक कविता है, स्वभावत: उसमें वस्तु तत्त्व (ऑब्जेक्टिविटी) असंदिग्ध है ...। हिंदी साहित्य के इतिहास में यही युग ऐसा था जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया गया था।'[34]

'शुद्ध कला' यानी 'स्वायत्त कला' : यहाँ नगेंद्र के पद 'वस्तु तत्त्व' पर ध्यान देना ज़रूरी है। नगेंद्र ने वैयक्तिक गीत कविता को इस कविता के विलोम के रूप में रखा है और यह रीतिकालीन कविता के बारे में बड़ी मानीख़ेज़ स्थापना है जो हिंदी के परवर्ती पुनर्जागरण या नवजागरण या सुधारकाल में निंदित हुई और जो छायावादी कविता के एक प्रमुखतम काव्य संकलन पंत के *पल्लव* की छत्तीस पृष्ठ लम्बी भूमिका में शुरू से आख़िर तक 'कण्डेम' की गयी। यह 'वस्तु तत्त्व' था 'शृंगार रस' और 'नायिका भेद'।

छायावाद-पूर्व काल में तो उसे पतन की ओर ले जाने वाला माना ही गया, छायावादी काल में भी इसी कारण इसे दण्डित किया गया। इन कवियों का 'शृंगार' वर्णन और नायिका-भेदादि का बखान छायावाद की वैयक्तिकता की नज़र में एक 'पाप' बन गया। पूरा रीतिकालीन युग ही 'नैतिक पतन' से छलछलाता दिखने लगा। 'शृंगार' का नाम आते ही छायावादी युग में एक तरह की 'खाप' इस कविता को 'शाप' देने लगी। पंत ने लिखा :

> उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृतपात्र, और बाएँ में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से छलछला रहा है। ओह उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र और अपार संकीर्णताएँ हैं। ...। श्याम तथा राधा की खोज में सौ-सौ यत्नों में लपेटी हुई देश की आबालवृद्धाएँ नग्नप्राय: कर भारतीय गृहस्थ के बंद द्वारों से बाहर निकाल दीं, उनके कभी इधर उधर न भटकने वाले सुकुमार पाँव सारे संसार के सारे विषपूर्ण काँटों से जर्जरित कर दिये। गृहलक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गयीं ...। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथ कर इन्होंने कामदेव का नव जन्मदान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है? इन वीरों ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा संसार कामिनीमय हो गया ...। 'सब जग जीतन को' काम का ऐसा 'काय व्यूह शीशमहल' बना दिया कि आर्य नारी की एकनिष्ठ, निश्चल, पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग-बिरंगे बिंबों में बदल गयी— जिनकी भूलभुलैया में फँस कर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया' ...। देश की प्राणसंचारिणी, शक्ति संजीवनी की वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू में बदल दिया। सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जल कर छार हो गये। शांति सुख स्वास्थ्य सदाचार सब भस्म हो गये। पवित्र प्रेम का चंदन पंक सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया, और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गयी, शक्ति की कमर खो गयी, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड़ गया। ऐसी थी इनकी वीभत्स विकारग्रस्त विलासपुरी।[35]

गृहस्थिन, आर्य नारी और सती आदि का ज़िक्र पंत के यहाँ अकारण नहीं है। ये स्त्री की वे 'नैतिक श्रेणियाँ' हैं जिनके ज़रिये रीतिकालीन नायिका रूपी 'विलास वनिताओं' को डाउनग्रेड करना आसान था। पंत की दृष्टि में इस देश की आर्य नारी सती की तरह ही है जो त्याग और समर्पण की

---

[34] अभय कुमार दुबे : 579-601.

[35] नगेंद्र : 140.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 200

प्रतिमूर्ति है। उसके बरअक्स दो ढाई सौ साल तक कवियों द्वारा रची गयी विभिन्न प्रकार की वासकसज्जाएँ और अनेक अभिसारिकाएँ 'भारत के मानस को दरकाने', 'देश' की सुख-शांति-सदाचार ख़त्म करने के लिए बनाई गयी थी, इसीलिए इनके कवियों को निंदित किया गया।

यह बताता है कि विक्टोरियाई नैतिकता और उच्च वर्णवादी ब्राह्मणवादी नैतिकता का जो संयुक्त मोर्चा मैकाले और उसके बाद के ज़माने में बना था, छायावाद के बहुत बाद तक प्रभावशाली रहा। इसमें आर्य समाज का दबाव और प्रभाव ख़ूब पढ़ा जा सकता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन सबका लक्ष्य स्त्री की 'यौनता' (सेक्शुअलिटी) का दमन करना रहा।

रीतिकाल ने कविता की वस्तु बदल दी। ईश्वर की जगह उसने स्त्री को कविता की 'अधिष्ठात्री देवी' बना दिया है। स्त्री इतने प्रबल रूप में पहली बार प्रतिनिधान करने वाली या रिप्रेज़ेंटेशन करने वाली बनी, लेकिन बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अचानक स्त्री के इस प्रतिनिधान को अवांछित कर दिया गया। उसे वर्जित करने का अभियान सा चलाया गया। रीतिकाल की ऐसी व्याख्याएँ बीसवीं सदी के पहले चार पाँच दशक इसी तरह के 'अखण्ड ब्रह्मचर्यत्व' के पाखण्ड से पीड़ित रहीं। इस काम में शुक्लजी अकेले नहीं थे। *पल्लव* में पंत अपनी यह भड़ास निकाल चुके थे और रामनरेश त्रिपाठी अपनी *कविता कौमुदी* भाग-एक (1923) की भूमिका में रीतिकाल के कवियों और कविताओं के बारे में कुछ इस तरह फ़रमा चुके थे :

> आइए, शृंगारोद्यान के दूसरे भाग की सैर करें। स्त्री यहाँ की अधिष्ठात्री देवी हैं। यहाँ सांसारिक विषय वासना का ही साम्राज्य है। यहाँ मनुष्य-जीवन का लक्ष्य स्त्री-सुखोपभोग ही माना जाता है। यहाँ स्त्रियों के हावभाव और कटाक्ष से घायल विरहणियों का जमघट है। दूतियों और कुटनियों का बाज़ार गर्म है। नायक और नायिकाओं की अनेक जातियाँ यहाँ विद्यमान हैं। अभिसार-स्थानों की भरमार है। कुलवधुओं से लुक-छिप कर बातें करना, उन्हें उड़ा लाना, अविवाहिता नव वयस्काओं से दूषित प्रेम करना, हर मौसम और हर अवस्था के लिए तैयार किये हुए नुस्खों के अुनसार विषय-विलास करना, रात-दिन चोटी से लेकर अँगूठे तक स्त्री के अंगों की चर्चा में निमग्न रहना, यही यहाँ का धंधा है, यही यहाँ का जीवन है। इस उद्यान के कवियों ने हिंदी संसार में विषयानुराग की मात्रा खूब बढ़ा दी, व्यभिचार की वृद्धि की, निकम्मेपन की जड़ जमाई, वैवाहिक पवित्रता पर आक्रमण किया। मैं केवल परिणाम की बातें कहता हूँ।[36]

आश्रयदाता राजाओं के सुखसाज के लिए गरमी या सरदी सब में विलास की सामग्री का मोहक वर्णन करने वाले, उनके रति सुख को बढ़ाने वाली सामग्री का वर्णन करने वाले कवियों को आगे की पंक्तियों में जम कर धिक्कारते हुए इस विलासी अमीरी की सुखसामग्री का ग़रीब से कंट्रास्ट करके 'प्रगतिशील मुद्रा' में कहा गया कि पद्माकर ने 'गिलगिली हैं गिल में, गलीचा है, गुनीजन हैं ...' छंद लिखकर राजाओं को सर्दी का इलाज बताया, लेकिन 'किसी ग़रीब को यह सुख सामग्री दुर्लभ (ही) है।'[37]

रीतिकालीन सुखवाद की यह एक तरह की 'प्रगतिशील आलोचना' है और इसी तरह दूसरी व्याख्या ग्वाल कवि द्वारा गरमी के इलाज का नुस्ख़ा बताने की की गयी है।

इस सुधारवादी दौर में 'सुखेषणा' एक 'बड़ा पाप' है।

इस सुखवाद को उर्दू कविता की नक़ल बताते हुए त्रिपाठी कह उठते हैं: 'उर्दू शायरी रंग-ढंग की महफ़िल के रंग-ढंग की ही यह मण्डली है। वहाँ भी जीते जी मौत है और यहाँ भी वैसी ही आह ऊह है। अंतर इतना ही है कि वहाँ अप्राकृतिक प्रेम की चर्चा है। यहाँ प्रकृति की सीमा के भीतर ही सब आमोद-प्रमोद हैं'।[38]

---

[36] देखें, मिश्र : 227-228.

[37] वही : 141.

[38] देखें, सुमित्रानंदन पंत : 20-21.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 201

इस नैतिक/प्रगतिशील विमर्श में भारतेंदु हरिश्चंद्र को भी त्रिपाठीजी के दो हाथ पड़ जाते हैं। यह नज़रिया इस क़दर नैतिक है कि किसी का 'रसिक' होना तक 'क्राइम' है। ज़रा देखें : त्रिपाठीजी इस बचे खुचे रीतिकाल (भारतेंदु) को ठिकाने लगाने के लिए सबसे पहले उनके बंगले के गेट पर लिखा यह छंद उपहास-वक्रता, के साथ उद्धृत करते हैं :

परम प्रेमनिधि रसिकवर,अति उदार गुनखान
जग -जन रंजन आसु कवि,को हरिचंद समान
जग जिन तन समकरि तज्यो,अपने प्रेम प्रभाव
करि गुलाब सौं आचमन,लीजत वाकों नॉव

यह हरिश्चंद्र का बंगला है ...। ये बड़े प्रेमी बड़े रसिक बड़े उदार और विलासी पुरुष हैं।[39]

पाठक जान लें कि इस प्रकरण में ब्रजभाषा में रीतिकालीन तरीक़े की कविता शुरू करने के लिए समूचे भारतेंदु मंडल तक को ठोक दिया गया है। मैथिलीशरण गुप्त जैसे वैष्णव तक को नहीं बख़्शा गया है।

रीतिकाल की नैतिक निंदा में उक्तोद्धृत कई पन्ने रँगने के बाद ब्रज हिंदी की तुलना करने के बाद त्रिपाठीजी रीतिकाल की 'शृंगार-केंद्रिकता' पर एक बार फिर इस तरह से कृपा करते हैं :

> शृंगार के विषय में मुझे कुछ अधिक कहना है। भक्त कवियों ने जहाँ कहीं भी प्रसंगवश शृंगार का वर्णन किया है उसमें विशुद्ध प्रेम और मानव स्वभाव की सच्ची झलक दिखाई पड़ती है। वे सदाचार की सीमा से बाहर नहीं गये हैं। किंतु सिर से पैर तक शृंगार में डूबे हुए कवियों ने सदाचार को लात मारी है। उन्होंने नायिका भेद को कविता का सबसे प्रधान अंग बना डाला है। नायिकाओं को पता नहीं किंतु कवियों ने उनके सैकड़ों भेद कर डाले। सबकी अलग-अलग भाषा ,सबके अलग-अलग भाव, वेष, भूषा और चाल, बिलकुल नया संसार ही रच दिया। इस संसार में सदाचार की गंध नहीं। अभिसार स्थान की सजावट है, दूतियों की दौड़ है, वाक्यविलास है, विरहोच्छवास और बेकली है ...।'[40]

लेकिन त्रिपाठी यहाँ एक पते की बात कह गये कि युग बदल गया, अंग्रेज़ आ गये, विरही-विरहिणी कॉलेजों में पढ़ने लगे और अब विरहणियों के साथ वैसी घटनाएँ नहीं होती जैसी रीतिकाल की कविता में होती थीं।

यानी कि अंग्रेज़ आये। अपने साथ अपना नया सिस्टम लाए और देखते-देखते रीतिकाल आउट ऑफ़ डेट हो गया।

सवाल यह उठता है कि जब सब कुछ आउट ऑफ़ डेट हो गया, तब रीतिकालीन कवियों की इतनी कुटाई किस लिए? और 'सदाचार का ताबीज' क्यों बाँध रहे हैं त्रिपाठीजी?

■■■

कारण यही कि एक नया ज़माना आ रहा है। नये विमर्श पैदा हो रहे हैं। समाज सुधार और नवजागरण की बातें हो रही हैं। आज़ादी की बातें हो रही हैं। आज़ादी के संघर्ष के तमाम तरह के रास्ते बन रहे हैं। उनमें प्रिंट मीडिया एक माध्यम बन रहा है। नया जनसंचार पैदा हो रहा है। खड़ी बोली में गद्य प्रचुर मात्रा में विकसित हो रहा है और इस तरह नया पत्रकार नया लेखक बन रहा है और कविता कहानी-लेख-व्यंग्यादि का नया पब्लिक स्पेस बन रहा है जो रीतिकालीन दरबार से एकदम भिन्न और विपरीत है। नया लेखक नयी भूमिका के प्रति अधिक सजग है। अपनी भूमिका को समझता है। इससे एक

---

[39] देखें, त्रिपाठी : 104-105.
[40] वही : 106.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 202

सामाजिक दृष्टिकोण विकसित हो रहा है जो उन बातों को घृणा की नज़र से देखता है जो समाज सुधार और आज़ादी की प्राप्ति के कामों में बाधा बन सकती हैं।

इस दृष्टिकोण में एक नये प्रकार का 'प्रोटेस्टेंटिज़म' है जिसमें एक 'कल्पित विचार' पैदा हो रहा है कि हमारे समाज की सबसे बड़ी बाधा शृंगार है, रति है, सुख है, विलास है और असंयम है। प्रोटेस्टेंटों की तरह आर्य समाज मैदान में आ रहा है। भारत देश की अवधारणा की जा रही है। राष्ट्र की अवधारणा की जा रही है जिसमें भाषा-साहित्य-संस्कृति सब उसके हेतु समर्पित हैं।

नया समय 'समकालीनता' और 'प्रासंगिकता' को एक बड़े सामाजिक मूल्य की तरह बना रहा है। इसके दबाव के चलते प्रत्येक मूल्य का समसामयिक होना ज़रूरी है। अपने समय के प्रति सजगता बढ़ रही है। यह उस दौर का आधुनिकताबोध है जिसके सामने रीतिकाल 'विलास जर्जर' और 'अपराधी' की तरह नज़र आता है। यही नहीं ब्रज भाषा के मुक़ाबले एक राष्ट्र-भाषा की तलाश और उसमें सब तरह के कामकाज करने की क्षमता विकसित करना नया समाज बनाने का सबसे बड़ा उददेश्य है जिसे न ब्रजभाषा प्राप्त कर सकती है न रीतिकालीन रचना प्राप्त कर सकती है। नये समय में ऐसे बहुत से नये कार्यभार सामने आ रहे हैं। पुरानी भाषा इसके लिए नाकाफ़ी है। नयी अभिव्यक्ति के लिए नयी भाषा और नया माध्यम ज़रूरी है। प्रिंट मीडिया ही इन कार्यभारों को पूरा कर सकता है।

पंतजी के इन कार्यभारों को इस तरह कहते हैं : 'हमें भाषा नहीं राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है। पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा जिसमें हम हँसते रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके।'[41]

यह एक बड़ा कार्यभार है। ब्रज भाषा इसे पूरा करने के लिए पैदा नहीं हुई थी। न उसकी कविता ही पैदा हुई थी। तब उससे इन कामों को लेने का आग्रह कैसा? उसकी अक्षमता तो साफ़ ही थी। तब उससे अपेक्षा क्यों थी? इसलिए कि नये कार्यभारों और नयी भाषा के विकास के लिए पूर्वकाल को धिक्कार कर उसे किनारे करना ज़रूरी था :

> हम इस ब्रज की जीर्णशीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली नहीं चाहते। इसकी संकीर्ण कारा में बंदी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है। हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हमें यह पुरानी फ़ैशन की मिस्सी पसंद नहीं जिससे हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रंग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल आउट ऑफ़ डेट हो गयी है। यह नकाब पहना हुआ हास्यप्रद चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते-बुने अपनी ही इच्छा के रंग में रँगे वस्त्र चाहते हैं। चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्यों न हों। इसी में हमारे वाणिज्य और कला-कौशल की कुशलक्षेम है, कल्याण है ...। हमें देशकाल की उपेक्षा करने वाले, अपने राष्ट्र के भाग्यविधाता के विरुद्ध खड़े झाड़-झंखाड़मय नवीन कुरूप सृष्टि करने वाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं। इनकी प्राचीन ब्रजभाषा की काशी हमारे संसार से बाहर इन्हीं की अहमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती। उसकी अंधी गलियों में आधुनिक सभ्यता का विशद यान नहीं जा सकता।[42]

यह सब सही है लेकिन हम फिर वही दुहराते हैं कि जब ब्रजभाषा नये परिवर्तनों के बीच स्वयं ही 'आउट ऑफ़ डेट' हो चुकी हो तब उसकी कविता से शिकायत कैसी? खड़ी बोली में तो वैसी कविता नहीं हो सकती थी— तब उससे डर कैसा?

इस डर का कारण हमारी विकसित हो रही 'ओरिएंटलिस्ट आधुनिकता' ही थी जो मैकाले के मिनट्स में निवेशित 'ओरिएंटलिज़म' से बन रही थी— जिसके कथित 'नवजागरण' में रीतिकालीन 'शृंगार' काव्य समाज के 'ब्रह्मचर्य' के लिए ख़तरा था।

---

[41] वही : 107.

[42] वही.

13_sudhish:Layout 1 7/25/2016 11:48 AM Page 203

संदर्भ :

अभय कुमार दुबे (2015), 'रीतिकाल संहार और नायिका-द्वेष : हिंदी साहित्येतिहास का एक अनर्थकारी प्रकरण', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति,* वर्ष 3, खण्ड 3, अंक 2, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

आचार्य रामचंद्र शुक्ल (संवत् 1986), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संशोधित एवं परिवर्धित तीसवाँ संस्करण, संवत् 2052.

आचार्य भिखारीदास (संवत् 2013), *काव्यनिर्णय,* जवाहरलाल चतुर्वेदी (सं.), कल्याणदास ऐंड ब्रदर्स, वाराणसी, दूसरा संस्करण, संवत् (2019).

एंड्रयू ऐडगर व पीटर सेज़विक (सं.) (1999), *की-कंसेप्ट्स इन कल्चरल थियरी,* रौटलेज, न्युयॉर्क.

डॉ. नगेंद्र (2000), *रीतिकाव्य की भूमिका,* मयूर पेपरबैक्स, नोएडा, प्रथम सजिल्द संस्करण (1949) में नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली से प्रकाशित.

पॉल हेमिल्टन (2007), *न्यु-हिस्टोरिसिज़म,* रौटलेज, लंदन और न्युयॉर्क.

बलदेव उपाध्याय (संवत् 2007), *भारतीय साहित्यशास्त्र,* नंद किशोर ऐंड संस, वाराणसी.

रामनरेश त्रिपाठी (संवत् 1980), *कविता कौमुदी-पहला भाग,* हिंदी मंदिर, प्रयाग.

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (1994), *हिंदी साहित्य का अतीत-दूसरा भाग : शृंगारकाल,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण संवत् 2017 में प्रकाशित. प्रस्तुत लेख में उद्धृतांश तृतीय संशुद्ध संस्करण से जो संवत् (2036) में प्रकाशित हुआ.

सुमित्रानंदन पंत (1993), *पल्लव,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, नौवाँ संस्करण, समस्त उद्धरण (2014) के संस्करण से.